ॐ

श्री समुद्रदत्त चरित्र

रचयिता.

श्री १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज

★

प्रकाशक:—

समस्त दिगम्बर जैसवाल जैन समाज

अजमेर (राज०)

पुस्तक मिलने का पताः—
दिगम्बर जैसवाल जैन समाज
अजमेर (राज०

प्रथम संस्करण 1000	मूल्य : मनन	अषाढ़ शुक्ला 14 वी. नि. सं० 2495

मुद्रकः—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

दो शब्द

इस ग्रन्थ की पृथक् भूमिका की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि पूज्य आचार्य श्री ने प्रथम सर्ग की रचना ही भूमिका के रूप में निर्मापित की है। समुद्रदत्त (भद्रदत्त) गृहस्थके आवश्यक न्यायानुसार धनार्जन के निमित्त विदेश में जाता है और पुरोहितजी के द्वारा रत्नों के हरण किये जाने पर कैसी विपत्ति में फँसता है, किन्तु सत्य धर्म के पालन द्वारा वह भद्र इस भव और परभव में भी अलौकिक सुखों की प्राप्ति करता है, यही भद्रोदय ग्रन्थ का मूल आशय है।

विज्ञान के चमत्कारों ने संसार की दृष्टि को चकाचौंध कर दिया है, सबकी शिकायत है कि सिनेमा में जाकर बच्चे एवं बच्चियों का जीवन बिगड़ जाता है और वे न अपने माता पिताओं का कहना ही मानते हैं और न पास पड़ोसियों के साथ ही अच्छा व्यवहार करते हैं। यह कहना सच तो है किन्तु अरण्यरोदन है-उपाय विहीन-दैन्य एवं विवशतापूर्ण कथन है।

पांचों इन्द्रियां अपने २ काम में स्वतः प्रवृत्त होती हैं और मन के सहयोग से उसमें रस प्राप्ति कर सन्तुष्टि का अनुभव करती हैं। अब यह प्रवृत्ति चाहे भली हो या बुरी किन्तु ६० प्रतिशत व्यक्तियों को ऐसा करना ही पड़ता है, केवल हमारा पुरुषार्थ वही समीचीन समझा जा सकता है जिसके द्वारा पांचों इन्द्रियों की तथा मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोककर शुभ की ओर उनकी गतिको हम बदल दें।

पूर्व आचार्यों का ध्यान भी इस ओर था, उन्होंने बड़े २

पुराण, चरित्रादि का निर्माण कर अपने युग की आवश्यकता के अनुसार प्रथमानुयोग द्वारा भावुक जनता का कल्याण किया; किन्तु वे महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, सरीसी विस्तृत रचनायें हैं आज के विद्यार्थी का न तो उतना क्षयोपशम ही है; न तद्गत विषयों का याद रखने की स्मरण शक्ति ही; साथ ही उसके पास इतना समय भी नहीं है जिससे वह उन विशाल कृतियों से पूर्ण लाभ उठा सके।

बालकोपयोगी संस्कृत साहित्य की बड़ी कमी है। ज्ञानमूर्ति चारित्रभूषण आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने इस कमी का अनुभव करके, न कठिन तथा न बहुत सरल ही किन्तु मध्यम श्रेणी के इस खण्ड काव्य की रचना क्षुल्लक अवस्था में की है। आजन्म ब्रह्मचारी, दूरदर्शी आचार्य श्री के द्वारा भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये तथा सत्य की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रूप से स्थापित करने के लिये ही भद्रदत्त (समुद्रदत्त) का कथानक अपने आगामी भवों सहित सुन्दर रूप में उपस्थित किया गया है। भारतवर्ष की आदरणीय जनतन्त्र को महत्व देने वाली सरकार का उद्देश्य तो है 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्य की ही विजय होती है झूठ की नहीं, किन्तु इस सिद्धान्त को जनता के हृदय में सर्वदा के लिये स्थापित करने के लिये सरकार का कोई मौलिक प्रयास नहीं है। बालकोपयोगी एवं सम्प्रदायवाद से रहित मानवोचित अनुपम सरस रचनायुक्त यह भद्रोदय काव्य उस कार्य की पूर्ति के लिये भी एक बड़ा ही सुन्दर एवं प्रशंसनीय प्रयत्न है।

आचार्य श्री ने न केवल जैन धर्मावलंबियों के ही हितार्थ

अपितु मानव मात्र के कल्याण करने के लिये अहिंसाणुव्रत की पुष्टिरूप 'दयोदय'—मृगसेन धीवर का कल्याण करने के भावात्मक काव्य को; सत्य और अचौर्य की पुष्टि के लिये प्रस्तुत भद्रोदय काव्य को, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये 'वीरोदय' तथा परिग्रह परिमाण की रक्षा के लिये 'जयोदय' महाकाव्य को बनाया है। आचार्य श्री की गति संस्कृत एवं हिन्दी के अनेक काव्यों के रचने में कितनी सार्थक हुई है यह तो आपके द्वारा विरचित पृथक् २ ग्रन्थों के गम्भीर एवं निष्पक्ष अवलोकन से ही ज्ञात हो सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य श्री ने अपना लाघव प्रदर्शित करते हुये यह सब गुरु कृपा का ही फल बतलाया है साथ ही सत्य की महिमा को अस्तित्व और नास्तित्व के विधि एवं निषेध द्वारा बहुत ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। इस ग्रन्थ में समुद्रदत्त (भद्रदत्त) के व्यापार करने की अनुमति लेते समय, पिता माता आदि का वार्तालाप, रत्नों के हरण होने के समय उन्मत्त समुद्रदत्त की दीन पुकार, तथा रानी की सद्बुद्धि एवं कुशलता सूचक प्रयासादि सभी दृश्य रोमांचकारी रूपमें प्रदर्शित किये गये हैं।

सरागी एवं वीतरागी व्यक्ति की रचना में जमीन और आसमान का अन्तर होता है। वीतरागी की रचना हमें इस लोक सम्बन्धी नीतियों का सदुपदेश देने के साथ ही साथ परलोक में भी अभ्युदय प्राप्त करने के मार्ग को बिजली के समान तेज और वजन दार शब्दों के द्वारा हृदय-तल पर सदा के लिये स्थापित कर देती है। प्रायः सभी जैनाचार्यों की कथनी में पूर्वभव का सत्य वर्णन होता

ही है और यह आस्तिक्य भावना का द्योतक भी है—ऐसे वर्णन भी इस ग्रन्थ में अत्यन्त सरल एवं रोचक रूप से वर्णित किये गये हैं।

बहुत प्रसन्नता है कि कुछ ही वर्षों से हमें आचार्य श्री की अभीतक अप्रकाशित एवं अनुपम रचनाओं को हिन्दी में भी पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। श्री जंसवाल दिगम्बर जैन समाज अजमेर को भी हम धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते, जिस समाज के महानुभावों ने श्री १०५ श्री ऐलक सन्मति सागरजी महाराज की संस्कृत काव्य सत्प्रेरणा से ग्रन्थ को हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कर एक आवश्यक सत्कार्य की पूर्ति की है।

अधिक कहां तक कहा जाय यह ग्रन्थ खांड की रोटी के समान मधुर एवं रसपूर्ण है। संस्कृत के सहृदय महानुभावों के लिये तो यह अलंकारपूर्ण रसास्वाददायी देन है ही किन्तु हिन्दी के जानने वाले भी सज्जन जिस दृष्टि कोण से इस ग्रन्थ का आस्वादन करेंगे उन्हें उसी धारा में अनुपम आनन्द की प्राप्ति होगी। पण्डित महेन्द्र-कुमार जी पाटनी काव्यतीर्थ किशनगढ़ एवं श्री नेमीचन्दजी बाकली-वाल को भी हम धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने बहुत कम समय में ही इस ग्रन्थ की भाषादि को सुन्दर बनाने में पूर्ण सह-योग दिया है।

देवाधिदेव श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि आचार्य श्री का स्वास्थ्य उत्तम रहे; वे चिरायु हों, इन आचार्य श्री की उपस्थिति में ही हम आपके "जयोदय" महाकाव्य को भी हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित देख सकें। इतना ही नहीं बल्कि श्री १०८ श्री विद्यासागर

जी महाराज, होनहार नवयुवक श्री दीपचन्द्रजी आदि इन ग्रन्थों में आई हुई सदुक्तियों के द्वारा महाराज श्री की कृतियों को जीवित रूप देकर जनताका कल्याण करते रहें। अन्य सहृदय विद्वद्गण भी पूज्य आचार्य श्री के परिश्रम को सफल बनावें, यही हमारी मंगल कामना है।

विनीत—

दिनांक १ जुलाई १९६१

(विद्याभूषण)
पं० विद्याकुमार सेठी, न्यायकाव्यतीर्थ
रिटायर्ड गवर्नमेंट पेंशनर, अजमेर

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता

परमपूज्य, वयोवृद्ध तपोनिधि, ज्ञानमूर्ति

श्री १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज

समुद्रदत्त चरित्र

नमाम्यहं तं पुरुषं पुराण मभूद्यु गादौ स्वयमेव शाणः
धियोऽमिपुत्र्या दुरितच्छिदर्थमुत्तेजनायातितरां समर्थः

अर्थः—मैं सब से पहले उन पुराण पुरुष श्रीऋषभदेव भगवान को नमस्कार करता हूं जो कि इस युगके शुरुमें ही दुष्कर्म को नाश करने के लिये छुरी का काम देने वाली भली बुद्धि को उत्तेजना देने के लिये स्वयं शाणरूप बन कर उस कार्य में बहुत ही समर्थ हुये।

श्रीवर्द्धमानं भुवनत्रयेतु विपत्पयोधेस्तरणाय सेतुं
नमामि तं निर्जितमीनकेतुं नमामितोहन्तु यतोऽघहेतुः।।२।।

अर्थः—इन ऊर्ध्व मध्य ग्रोर पाताल इस प्रकार तीनों लोकों में जो सब से ग्रधिक सम्मान के पात्र हैं, जिन्होंने कामदेव को भी जीत लिया है ग्रोर जो विपत्तियों के समुद्र से पार पहुँचने ग्रोर पहुँचाने के लिये पुल के समान माने गये हैं उन श्री वर्द्धमान भगवान को भी नमस्कार करता हूं ताकि मुझे पाप का कारण ग्राकर के न सता पावे।

प्रणामि शेषानपि तीर्थनाथान् समस्ति येषां गुणपूर्णगाथा ।
भवान्धगर्ते पतते जनायाऽनुकीतिताऽऽलम्बनसम्प्रदा या ।३।

अर्थः—शेष तीर्थंकरों को भी मैं नमस्कार करता हूँ जिनके कि गुणों का गान करना, इस संसाररूप अन्धकूप में पड़ते हुये प्राणीको बचाने के लिये हस्तावलम्बनस्वरूप होता है ।

श्रीमज्जिनेन्द्रस्यपदाम्बुजात- द्वयंप्रणम्यातिशयान्मयाऽतः
समेति यद्भव्यमिलिन्दसंसद् समुच्यते सम्प्रति सत्यसम्पत् ।४।

अर्थः-जिसको कि भव्य पुरुषरूप भ्रमरों की सभा प्राप्त होती रहती है ऐसे श्री जिन भगवान के चरण कमलों के युगल को नमस्कार करके उसके बाद अब उन्हीं भगवान के चरणों की कृपा से सत्य सम्पत् अर्थात् सच बोलने की महिमा बता रहा हूँ ।

अङ्गाङ्गिनोरैक्यनुदेऽथ घाणी जीयादिदानीं जिनदेववाणी ।
समस्तु दुर्दैवमिदे कृपाणी समन्वयानन्दसमूहखाणी ।।५ ।।

अर्थः—इस समय श्री जिनभगवान की वाणी जयवन्त रहे जो कि शरीर और आत्मा को जुदा २ करने के लिये तो कोल्हू के समान है, पाप कर्म को काट डालने के लिये छुरी सरीखी है और सब लोगों को होने वाले सुख समूह की खानि है ।

समस्ति काव्योद्धरणायमेतु गुरोर्महानुग्रह एव हेतुः ।
पयोनिधेःसन्तरणायसेतु वमस्त्यत्राश्रम्य्रहति विजेतु ।।६।।

अर्थः—मेरे इस काव्य बनाने के लिये अगर कोई कारण है तो एक श्री गुरु महाराज की कृपा ही है उसीसे मैं इसमें कृत-

कार्य हो सकूंगा जैसे कि सेतु के द्वारा ही समुद्र से पार हुवा जाता है अथवा कवच को पहन कर ही हथियारों की चोट से बचा जा सकता है।

गंगेव वाणी गुणभद्रभूता महापुराणी जगतेऽस्तिपूता ।
ततः प्रसूतेयमपीह कुल्या शस्योक्तिसम्पत्प्रकरैकमूल्या ।७।

अर्थः—जिसके द्वारा महा पुराण का जन्म हुवा है वह श्री गुणभद्राचार्य की वाणी गंगा नदी के समान है जो कि संसारी जीव के लिये पवित्र मानी गई है, अगाध जल का होना आदि गुण युक्त है और जो कि बहुत ही पहले से चली आई हुई है। अब यह मेरी सत्य सम्पत्रूप रचना भी उसी महापुराण की रचना में से एक अपने ढङ्ग से ली हुई है अतः गंगासे निकली हुई नहर के समान है, जिसका कि सत्य की बड़ाई करना ही एक काम है, नहर भी धान्य की फसल को बढ़ाने के लिये ही होती है।

सत्येन लोके भवति प्रतिष्ठा सत्येन लक्ष्मीभवताद्विशिष्टा ।
सत्येन वाचः सफलत्वमस्तु सत्यं समन्तान्महदस्तिवस्तु ।।८।।

अर्थः—सत्य के द्वारा संसार में इज्जत होती है, सत्य से लक्ष्मी की बढ़वारी होती है सत्य से ही मनुष्य के वचन की सफलता है, सत्य बोलना हर तरह से बहुत अच्छा है।

असत्यवक्तुर्नरके निपातश्चासत्यवक्तुः स्वयमेवघातः ।
व्यलीकिनोऽप्रत्ययमस्विशाऽतःप्रोत्पादयेत्त्वंनकदापिमातः ।९

अर्थः—झूठ बोलने वाले का खुद का ही घात होता है और वह नरक में जाता है, तथा च असत्य बोलने वाले का कोई भी

विश्वास नहीं करता इसलिये हे माता तुम कभी भी असत्य बोलने वाले को जन्म मत देना।

असत्यवक्तृ: परिहारपूर्वं सामीत्स्थितिस्सूनृत भाषितुर्वः।
सो पाठका वच्मि यथास्वशक्ति यत्रास्मदीयाप्रथितास्तिभक्तिः ।।१

अर्थ:—पूर्व समय में असत्य बोलने वाले का निराकरण करके सत्य बोलने वाले की किस प्रकार से इज्जत हुई और उसने किस प्रकार अपनी उन्नति की, बस मैं इसी बात को मेरी शक्तिभर हे पाठको! आपके सामने रक्खूंगा क्योंकि सत्य पर मेरी श्रद्धा है।

समन्तभद्रादि महानुभावा युक्ताःकविर्त्वोचितसम्पदा वा।
वाग्देवता यद्रसनाग्रवर्ति न्यासीन्प्रहर्तुं भवसम्भवार्ति ।।११।।

अर्थ:—कविता करने योग्य महिमा से तो पूर्व में समन्तभद्राचार्य सरीखे महानुभाव युक्त होगये हैं जिन को कि जीभ के अग्रभाग में वाणी का निवास था और जिनकी कि वाणी इस संसार के दुःखों से दूर करने वाली थी।

नाहं कविर्मर्त्यभवी तु अस्मि सरस्वतीसंग्रहणाय तस्मिन।
ममाप्यतः काव्यपथेऽधिकारः समस्तु पित्रीननुवालचारः।१२।

अर्थ:—मैं कवि नहीं हूं, केवल एक मनुष्यभवका धारण करने वाला मानव हूं बस इस मनुष्यता के नाते काव्य करनेरूप सन्मार्ग में मेरा भी साधारण सा अधिकार है क्योंकि पिता वगैरह सरीखे बड़े लोगोंके पीछे पीछे ही बालक भी चला करता है।

लतेव सत्ता मृदुपल्लवानां पदे पदे कौतुकमभिदधाना ।
समस्तु भूमौ कविता सुचित्ता-लि यः सदा सौरभवादिविता ।।१३।

अर्थ– इस धरातल पर कविता एक लता सरीखी होनी चाहिये, लता कोमल पत्तोंवाली होती है, उसी प्रकार कविता में अच्छे पद होने चाहिये। लता में जगह जगह फूल हुवा करते हैं उसी प्रकार कविता के पद पद मे एक विनोद की छटा होनी चाहिये। लता भौरों के लिये सुगन्ध को देने वाली होती है उसी प्रकार कविता भी सज्जनों के लिये स्वर्गीय जन्म वगैरह अभ्युदय सम्पत्ति को करने वाली होनी चाहिये।

वाङ्मं सदोषाऽपितु सत्यशंसा करोतिसद्भ्योरुचिदात्वसंसा ।
शिखेव दीपस्य ततस्त एतां पश्यन्तु सस्नेहदृशामसंताः ।।१४।।

अर्थ–यह मेरी वाणी यद्यपि अनेक प्रकार के दूषणों वाली है फिर भी सत्य की प्रशंसा करने वाली है इसलिये सहज ही सज्जन लोगों को रुचिकर होनी चाहिये, जैसे कि रात्रि में होने वाली दीपक की लौ उजाला करती है अतः उसमें लोग तेल और बत्ती बनाये रखते हैं उसीप्रकार इस मेरी कृति को भी भले पुरुष स्नेहभरी दृष्टि से देखेंगे ऐसी आशा है।

कुर्यात् कविः कान्दविकः कवित्वं धरातले मोदकमात्मवित्वं ।
वित्तं दधानाः खलु पुण्यवन्तः रमन्तु तस्यासु रसंतु सन्तः ।।१५।।

अर्थ–कवि एक हलवाई की तरह है, उसका काम है कि वह पृथ्वी के सभी लोगों के लिये मोदक अर्थात् प्रसन्नता देने वाला

कविम्बरूप लड्डू बनाकर रक्खे परन्तु उसके स्वाद को तो वे गुणग्राही सज्जन लोग ही चख सकते हैं जिनके कि पास आत्म-ज्ञानरूप धन हो ।

परस्य चित्तं गुणार्णकल्पं विलोप्तुमाबद्धकटिः सकोपः ।
न रोचते चेदमुकाय चौर-सुतैरहं मान्यि क्रियतां किलोरः ॥१६॥

अर्थ-दूसरों के गुणरूप धन को नष्ट करने के लिये ही जो हर समय तैयार रहता है और दूसरों की बढ़वारी को देखकर कोप-युक्त होता है कुढ़ता रहता है ऐसे चोर के बच्चे दुर्जन को अगर काव्य करने वाला बुरा लगता है तो भी काव्यकर्ता को उससे डरना नहीं चाहिये बल्कि अपने मनको दृढ़ बनाकर अपना कार्य करते रहना चाहिये ।

गुणं स्वकीयं द्विधापरेषां कार्पासवज्जन्मसमस्ति केषां
त्वचोऽप्यपायः परबन्धनाय दुराशयानां शणवत्सदा यः ॥१७॥

अर्थ-क्योंकि दुनिया में दो तरह के लोग सदा से ही हैं, एक तो वे जिनका कि जन्म कपास की तरह का औरों के गुह्यदेश (अवगुण अथवा गुप्त अङ्ग) को ढक रखने का होता है। दूसरे वे दुष्ट लोग होते हैं जो कि सण की तरह से अपनी चमड़ी तक को उधेड़ कर भी उससे दूसरों को बन्धा हुआ देखना चाहते हैं ।

सदादरोऽल्पे गुणतेऽप्यदो स गरीयांस्तस्य गुणोऽप्यतोषः ।
यत्नतुर्नास्थं नहि कस्य दोषः जीयाज्जगत्येष गुणैकपोषः ॥१८॥

अर्थ-जिसका ऐसा सहज भाव होता है कि दूसरे के एक छोटे से गुण को देखकर भी बड़ा खुश होता है उसका आदर करता

है परन्तु अपने आपके बड़े भारी गुण को भी यह गुण नहीं गिना करता, अपने गुण पर जिसे सन्तोष ही नहीं होता। आश्चर्य तो यह कि किसी दूसरे का दोष तो जिसकी दृष्टि में कभी आता ही नहीं, गुणों को ही देखकर उन्हें ग्रहण किया करता है, वह सज्जन इस दुनिया में बना रहे।

अस्मत्कर्मागोनिवहात्तनाय भवेन्न पयः पातुमिवाऽग्रपायः ।
कश्चाप्यहो कामसवादितत्वात् परोजलौका इव रक्तपः स्यात् ॥१९

अर्थ-हमारा काम गाय के समान अमृत बनाने वाली वाणी को बटोरने का है इस पर फिर कोई तो बछड़े की भांति उसका दूध पीने की चेष्टा करे और दूसरा जोंक के समान उसके खून का ही प्यासा बना रहे यह तो अपना २ काम है।

के स्मो वयं निष्कपटद्रुहाणां कर्तव्यताया विषये ब्रुवाणाः ।
यैः सम्भवित्रीबहुधान्यहानिर्यथा स्युरोके रचना विदानां ॥२०

अर्थ-चूहों के समान निष्कपटों (सरल लोगों या बेश-कीमती कपड़ों) के द्रोही लोगों के कार्य के बारे में तो हम कह ही क्या सकते हैं जिनसे कि इस दुनिया में बहु धान्य हानि (दूसरे २ लोगों का बिगाड़ या अनाज का नाश) ही होना सम्भव है।

योगोऽस्तु शिष्टेन महात्मनाऽद्य नीरस्य यदुन्नयना प्रसादं ।
तरेण नस्या द्विज पादकस्य दुष्टेन वाद्धं तु कदापि कस्य ॥२१

अर्थ-जिस प्रकार पानी का समागम दूध के साथ में होता है वह पानी की उन्नति के लिये हुआ करता है उसी प्रकार हम

लोगों का भी संसर्ग सज्जन के साथ में होना चाहिये किन्तु जहर के साथ मधु के संयोग सरीखे होनेवाले दुष्ट के साथ में तो किसी का भी प्रेम अच्छा नहीं होता।

सत्कस्य सौख्याय सदा सुधाला परस्य वागेवमिहा सिधाला।
यद्दुर्वशिल्पनिपरायणोऽसि दुःखाय लोकेषु चमत्करोति ।२२

अर्थ—सज्जन आदमी की वाणी हमेशह अमृत सरीखी सब को सुख देने के लिये होती है किन्तु दुर्जन पुरुष की बोली इस भूतल पर तलवार की धार के समान होती है जिसका जन्म दूसरों के मर्मच्छेद करने के लिये हुवा करता है जो कि लोगों में अपना चमत्कार दुःख के लिये ही दिखाती है।

द्राक्षेव मृद्वी प्रथिताऽऽदिमस्य वाह्येऽन्तरप्युत्तम भावनस्य।
परस्य घोण्टाफलवत्कठोरा-त्वस्न्वेन वृत्तिर्बहिरन्वघोरा ।२३

अर्थ—पहिले ही बताये गये हुये सज्जन की चेष्टा तो अन्तरङ्ग मे और बाहिर मे भी दाख सरीखी कोमल और मीठी होती है क्योंकि वह उसकी भावना सबका भला करनेरूप से उत्तम हुवा करती है। किन्तु दूसरे नम्बर पर कहे हुये दुर्जन की प्रवृत्ति तो अन्तरङ्ग में कठोरता को लिये हुये बदरी फल के समान सिर्फ बाहिर से ही सुहावनी दीखा करती है।

सन्योगुण ग्राहकतां प्रयाति दोषग्रहो दुर्जन एव भाति।
निसर्गतस्तस्य तथैवजातिः रोषाय कः कोऽत्र च तोषतातिः ।२४

अर्थ-सज्जन जो होता है वह गुणों का ही ग्राहक होता है तो दुर्जन दोष ही ग्रहण किया करता है, उसको उसके स्वभावानुसार यही जाति है इससे फिर किसके ऊपर तो रूसा जावे और किससे राजी रहा जावे ? राजी और नाराजीकी तो इसमें कोई भी बात नहीं, दोनों ही अपने २ स्वभाव के अधीन हैं।

द्वे भाजनो भुवनऽये विभाति संयोग एकः खलु दुःखजातिः।
पीडाकरोऽन्यो विरहे परन्तु सन्तोऽत्र माध्यस्थमिता भवन्तु ॥२५

अर्थ-इस भुवन पर जो दो प्रकार के आदमी हैं उनमें से एक संयोग में दुःख देने वाला होता है तो दूसरा वियोग में पीडा करनेवाला, इसलिये सन्त महात्मा लोग तो उन दोनों में ही मध्यस्थ भाव रखते हैं न पहले वाले पर द्वेष करते हैं और न दूसरे से मोह ही दिखाते हैं।

समस्ति शष्पाङ्कुर पोषिता या सन्तो मङ्गलसम्प्रदाया।
वाक्कामधेनुः खलशालनताऽमृतप्रदात्री सुतरामनेनाः ॥२६

अर्थ-यह वाणीरूप कामधेनु जो कि हर हालत में मङ्गल कारक है वह घास के अंकुरों के समान सज्जनों की कृपा से पोषण पाती है तो खलके सम्पर्क से और भी अधिक दुधारू बन जाया करती है, निर्दोष होकर पहले से भी ज्यादा लाभदायक सहज में ही हो जाती है।

असम्प्रयास स्वदुपार्जनाय भवेत्पयः पातु मिहाप्युपायः।
कल्याणस्येहोत्तमवदंत्र तस्याः परो जलौका इवरक्तपा स्यात् ॥२७

अर्थ-उस वाक् कामधेनु को अर्जन करने की कोशिश करना हमारा काम है फिर कोई तो बछड़े के समान होकर उसका दूध पीने की चेष्टा करो और कोई जोंक की तरह से उसके खून का ही प्यासा रहो यह उसकी इच्छा पर ही निर्भर है।

सत्यप्रतिज्ञानवतोऽभिवादस्तथात्र मिथ्यावदतो विपादः।
तयोरिहादर्श इव प्रसङ्गः प्रवीक्ष्यतां भो ललितान्तरङ्गाः।२८।

अर्थ-हे सुन्दर अन्तरङ्ग वाले पाठक लोगो हमारी इस कृति से सत्य बोलने वाले का बोलबाला और झूठ बोलने वाले का मुंह काला किस प्रकार हुवा. उन दोनों बातों का स्पष्टीकरण यहां पर दर्पण की तरह साफ २ दृष्टिगत होगा।

श्रीपद्मखण्डे नगरे सुदत्त नामा विशामीश उदात्तवृत्तः।
नाम्ना सुमित्रा गृहिणी तथास्मिन्नभ्यासमस्तकृत्यपुनीतराशिः।२९

अर्थः—अब हम कथा प्रसंग पर आते हैं तो कहना होता है कि इसी भरतक्षेत्र में एक श्रीपद्मखण्ड नाम का नगर है, वहां पर किसी एक समय उदार भले आचरण वाला एक सुदत्त नामका वैश्यवर होगया है, जिसके सुमित्रा नाम की औरत थी जो कि भले निर्दोष कर्तव्य करनेवाली थी।

निसर्गरूपेण हृदा पवित्रस्तयोरिहासीदपि भद्रमित्रः
मान्यः कलावानिव शुक्लपक्ष द्विताययोःसन्सुसुतःस दक्षः।३०

अर्थ—उन दोनों के एक भद्रमित्र नामका लड़का हुवा जो कि सहजरूपसे ही सरल और शुद्ध चित्त का धारक था और सज्जन

लोगों में चतुर समझा जाता था अतः वह ऐसा था जैसे कि शुक्ल पक्ष और द्वितीया तिथि में उत्पन्न हुवा चन्द्रमा जो कि नक्षत्रों का मुखिया होता है।

वयस्यवर्गेण समं कदापि क्रीडापरोऽसौ सुदन्त मापि
पितुःप्रयोगैर्भुवि निर्विवेष्टा कार्योऽस्ति नान्यैर्व्यवसायचेष्टा ।३१

अर्थ—एक समय अपने साथियों के साथ में खेलते हुये उसने उनसे ऐसी बात सुनी कि जो वैश्य कहे जाते हैं उन्हें पिता के कमाये हुये पदार्थों से अपना निर्वाह करना भला नहीं, किन्तु उन्हें खुद को कुछ न कुछ व्यवसाय करना चाहिये।

व्यापारकार्यार्थमितिस्म याम रत्नोचितद्वीप मतो व्रजामः
निज प्रयत्नेन तदेक नाम भाग्यानुकूलं द्रविणं श्रयामः ।३२।

अर्थ—इसलिये हम लोग भी व्यापार करने के लिये रत्न-द्वीप चलें जहां पर खास तौर से रत्न पैदा होते हैं और जिसकी कि बहुत ही बड़ाई सुनी जाती है, उस अपूर्व नाम वाले द्वीप में चल करके अपने प्रयत्न से अपने अपने भाग्य के अनुसार धन प्राप्त करें।

स्यगादि केनापि कवालकेन विनोदभावाद्भिषणाधरेण
संस्मर्यतामाशु भवद्भिरेतत् तदेकदा श्रीगुरुणापि सूक्तं ।३३।

अर्थ—आप लोग भी याद करो जो कि एक बार गुरुजी ने भी बड़ी ही अच्छी बात कही थी, इसप्रकार उन बालकों में से किसी एक लड़के ने विनोद वश होकर कहा।

गृहीजनश्चेद्व्यवसायहीनः साधुः सरोषः स इवाथ दीनः
सन्त्वेतरेषामपि सन्निघाती स्वयं पुना रौरवमेव याति ।३४।

अर्थ—देखो गुरुजीने कहा था कि जो गृहस्थ होकर व्यव-
सायहीन होता है, कुछ भी कारबार नहीं करता वह क्रोधी मुनी-
श्वर की तरह दीन होकर औरोंको भी नुकसान करनेवाला होता
है और आप तो रौरव नरक जाता ही है ।

परेण पृष्टः कथमित्थमस्तु त्वया यदुक्तं खलु वृत्तवस्तु ।
य आह सोदाहरणप्रसिद्धि स सम्भवेत्सम्वदनैकविद्धि ।३५।

अर्थ ऐसी बात सुनकर उनमें से किसी दूसरे ने कहा कि
आपने जो बात कही वह किस प्रकार से मानी जा सकती है ? आप
अपनी इस बात को किसी भी पुरानी कथाके द्वारा स्पष्ट करके उदा-
हरण पूर्वक कहो क्योंकि दृष्टान्त पूर्वक अपनी बात को श्रोताओंको
समझा देनेवाला ही सच्चा वक्ता होता है ।

प्रतिसमर्थयता निजलक्षण मितिनिशम्य स बुद्धिविचक्षणः
प्रवचनेन पुराभववृत्तक मनवदन्निजगाद कलानकः ।३६।

अर्थ-इस प्रकार सुनकर उस बुद्धिमान बालकने अपनी कही हुई
बात को समर्थन करने वाली पूर्वज लोगों के सूक्तको लेकर उसमे
एक पुरानी कथा को दोहराते हुये आगे लिखे अनुसार निर्दोषरूप से
कहने लगा ।

इति पं० भूरामल।परनाम क्षुल्लक श्री १०५ श्री ज्ञान-
भूषणजी महाराज द्वारा रचित इस भद्रोदय ग्रन्थ में यह प्रथम सर्ग
पूर्ण होगया ।

अथ द्वितीय सर्गः

शृणुत प्रतिपत्तिपूर्वकं प्रवदामीदमथो किलाहकं ।
भरतेऽत्र गिरिर्महानुरुर्विजयार्द्धो धरणीभृतां गुरुः ॥१॥

अर्थ–इसके बाद वह लड़का बोला कि आप लोग ध्यान पूर्वक सुनें, मैं उसीका स्पष्टीकरण करता हूं। देखो इसी भारतवर्ष में विजयार्द्ध नामका एक बहुत ही बड़ा पर्वत है, बल्कि समझना चाहिये कि वह और सब पहाड़ों का गुरु ही है।

य उदक् समुपस्थितोऽमुतः स्थलतः सम्वलतः प्रवर्तिनः ।
स्वायमर्द्धजयाय मध्यमो भरतस्यास्ति च चक्रवर्तिनः ॥२॥

अर्थ–जो पर्वत यहां से उत्तर की तरफ जाकर इस भारत वर्ष के ठीक बीच में है और अपनी सेना सहित दिग्विजय के लिये निकले हुये चक्रवर्ती की आधी विजय को बतानेवाला है, वहां तक पहुंचने पर छह खण्डों में से तीन खण्ड उसके अधीन हो जाते हैं।

स्वरुचा घनसारसारजित् प्रजरत्या अवनेः स भूधरः ।
ननु शेष मशेषयत्रहिं पृथुवेणीप्रतिमोऽतिसुन्दरः ॥३॥

अर्थ–जो कि अपनी कान्ति से कपूर के ढेर को जीतने वाला है और लम्बा पड़ा हुवा है इसलिये शेष नाग को भी परास्त करता हुवा वह इस बहुत ही बुड्ढी पृथ्वी की लम्बी चोटी सरीखा बहुत ही सुन्दर दिखता है।

शिखरैरभिगम्य योऽम्बरं स्वदृषद्भिः सकलं भुवस्तलं ।
त्रिजगत्सु पुनारसातलं स्वयमाक्रामति मूलतोऽचलः ॥४॥

अर्थ–जो पर्वत अपने शिखरों द्वारा तो आकाश को और इधर उधर बिखरने वाले पत्थरों द्वारा इस भूमण्डल को घेर कर तीन जगत में से बाकी बचे पाताल लोक को अपनी जड़ के द्वारा घेर रहा है।

तटिनीद्वयतो महीभृति परिणाहेन महीयसी सती ।
नगरीभिरिति राजते बृहन्निह विद्याधरलोकसंग्रहः ॥५॥

अर्थ–इस पर्वत पर (पच्चीस योजन की ऊंचाई पर जाकर) इधर उधर दोनों तरफ में तटिनी अर्थात् जगह छूटी हुई है जो कि परिणाम में खूब चौड़ी और ठेठ तक लम्बी खूब विशाल है (जिसे क्रम से दक्षिण श्रेणी और उत्तर श्रेणी कहते हैं) जिस पर नगरियां बनी हुई हैं जिनमें विद्याधर लोगों का समाज रहता है।

प्रविभाति गुहाद्वयं सहजं येन नरेश्वरोऽनकं ।
इत उत्तरभरतस्थल-विजयार्थमिति अर्पति चोद्बलः ।६

अर्थ– इस विजयार्द्ध पर्वत के आर पार दो सुरङ्ग हैं जो कि सहज ही बनी हुई हैं जिनमें से होकर बड़ी भारी सेना को साथ में लिये हुये चक्रवर्ती यहां से उत्तर की तरफ के तीन खण्डों को जीतने के लिये आसानी से चला जाता है और विजय करके वापिस आ जाता है।

इह पर्यटनार्थमागतां खगकन्यासु सुरीं समागतां ।
अनिमेष दृशैव पश्यति न परं भेदमुपागतोऽमरः ॥७

अर्थ—इस पर्वत पर हवाखोरी के लिये आई हुई और आकर यहांकी विद्याधरों की कन्याओं में मिल गई हुई अपनी देवी को ढूंढने वाला देव बहुत देर तक इकटक नजर से देखता ही रहता है, बहुत देर बाद जब और कोई भेद नहीं पाता तो बिना निमेषके लोचनों द्वारा उसे पहिचान पाता है क्योंकि औरतों के पलक लगते हैं किन्तु देवियों के नहीं।

विपिनेऽत्र कुतोऽपि कौतुकान्मिलिता गानवतीसु तासु का।
अतिमार्दवतो नभश्चरी स्वरभावाद्गुणेन किन्नरी ॥८॥

अर्थ—इस पर्वत के बन मे इधर उधर से कहीं से कौतुक के वश आकर गान करने वाली विद्याधारियों में आकर शामिल हुई किन्नरी उनके रूपकी कोमलता अथवा उनके मधुर भाषण के आगे गुणमें हीन होकर वस्तुतः किन्नरी अर्थात् नीच औरत प्रतीत होती है।

रुचिमल्लकुचाञ्चितान्तरा इह पत्रिश्रीद्रुतिकाशसंकरा
युवतेः सदृशी महीभृति मृदुरम्भोरुतया मता सती ॥९

अर्थ—उस विजयार्द्ध पर्वत पर वह जो कटिनी है वह एक नवयौवन वाली स्त्री सरीखी प्रतीत होती है क्योंकि स्त्री की जंघायें केलेके खम्भ समान होती हैं और वहां बहुत से केले के खम्भ ही खड़े हैं। स्त्री उत्तमशोभायुक्त स्तनों वाली होती है किन्तु वहां

पर अच्छी शोभा वाले लीची के पेड़ खड़े हैं। स्त्री की कटि इन्द्रके वज्रकी शोभा को जीतने वाली कान्ति के विकास को लिये हुये होती है तो नदी पवित्र जन्म वाले काश से व्याप्त हो रही है।

अलका नगरी गरीयसी-ह गिरावुत्तरतो महीदशी।
धनदस्य पुरी परीक्ष्यते प्रतिभूपेव समस्तु मासितेः।१०

अर्थ-इस पर्वत पर उत्तर की तरफ की नगरियों में एक अलका नाम की नगरी है जिस के आगे कुबेर की पुरी भी कोई चीज नहीं प्रतीत होती ऐसी अच्छी बनी हुई है, वस्तुतः उसको इस पृथ्वी का अलङ्कार ही समझना चाहिये।

इह शासनकृत प्रभावभृ स महाकच्छनृपः कदाप्यभूत्
यशसा विधुमात्मतेजसाऽर्कमपाकृत्य सुनास्थितो रमात्।११

अर्थ-कोई एक समय उस नगरी का शासन करने वाला महाकच्छ नामका राजा था जो कि बड़ा प्रभावशाली था, जिसने अपने यश से तो चन्द्रमा को और अपने तेज प्रताप से सूर्य को भी जीत लिया था इस प्रकार वह बहुत अच्छे ढंग से रह रहा था।

अमुकस्य वभव दामिनीत्यभिधा भूमिपतेः सुभामिनी
रुचिरस्वगुणोऽनुगामिनी-व जगद्धमकरस्य कामिनी।१२

अर्थ-वह राजा मेघ के समान सब लोगों की भलाई करने वाला था, उसके दामिनी नाम की रानी थी जो कि उत्तम काम चेष्टा की धारक होती हुई भी मेघ के पीछे २ होने वाली बिजली के समान राजा की इच्छानुसार चलने वाली थी।

अनयोस्तनया प्रियङ्गुश्रीरनुगा श्रीरिव सीत्सुसुन्दरी
जगतां हृदयोपहारिणी जलधारेव पवित्ररूपिणी ॥१३॥

अर्थ— इन दोनों राजा रानियों के एक प्रियङ्गुश्री नाम की लड़की थी जो कि इस संसार की समस्त सुन्दर औरतों में शिरोमणि थी इसलिये जलधारा के समान पवित्र रूपवाली हो कर सब लोगों के मन को भाने वाली थी।

नवयौवनभूषिता यदा कुसुमश्रीरिह वसन्तसम्पदा ।
भ्रमरः सुमनस्वसंस्तवः क इहास्या इति चेतनाऽभवत् ॥१४॥

अर्थ— जैसे फूलों की डार वसन्त की शोभा को धारण करती है उसी प्रकार जब उस लड़की ने नवयौवन को अपनाया तो उसके पिताको ऐसा विचार हुआ कि इसको सौभाग्य देने वाला इसका भ्रमर अर्थात् पति कौन होगा ?

पितुरित्यर्थं दैवमात्मविदोऽदिनमेषा भूप भो सुदीर्घदोः
स्तवकोत्तरगुच्छभूपतेर्महिता स्यात्तनया सतीह ते ॥१५॥

अर्थ— इस पर किसी भले ज्योतिषी ने बतलाया कि हे लम्बी भुजाओं के धारक महाराजा सुनो यह आपकी लड़की जो कि बड़ी सुशील है वह इस जन्म में स्तवकगुच्छ नगर के राजा की प्यारी बनेगी।

द्विरदेष्विव मेदिनीपतिष्वभिमुख्यः शुचिचित्तसन्ततिः ।
बहुदानविधानकारकस्फुटमैरावणनामधारकः ॥१६॥

अर्थ—उस राजा का नाम ऐरावण है जो कि हाथियों में इन्द्र के हाथी ऐरावण की समान सब राजाओं में मुखिया है जो कि निर्मल चित्त का धारक है और ऐरावण हाथी जिस प्रकार बहुत सा मद फैलाता है वैसे ही वह राजा भी बड़ा दान देनेवाला है।

इयमप्सरसामिवाधिका ललनानामयुतानि षट् पुनः ।
दधतोऽपि शचीव वज्रिणोऽरतिकर्त्री तनुजा समस्तु नः ।।१७

अर्थ—यह हम लोगों की बाई उन छह हजार औरतों के रखने वाले भूपति को भी वैसी प्यारी होगी जैसी कि बहुत सी अप्सराओं से युक्त देवराज को शची होती है।

तुरगेण स मायिना पुनस्तामिहानेतुमगात् प्रयत्नतः ।
किमसाध्यमसागमाय नो -न्धितिरास्तामवनौ वपुष्मतः ।।१८

अर्थ—इसके बाद महाकच्छ राजा ने एक मायामय बनावटी घोड़ा लेकर उसके द्वारा उसकी परीक्षा करके प्रयत्न पूर्वक उसके यहां जाने के लिये गमन किया सो ठीक ही है क्योंकि इस भूमण्डल पर शक्तिशाली होता है वह अपने अभीष्ट प्राप्तिमें देर नहीं करता।

जलधेस्तटसंस्थितं पुरं स तदीयं समुदीक्ष्य सुन्दरं ।
सुरपत्तनतोऽपिसंस्तुवन्महमाश्चर्यसमन्वितोऽभवत् ।।१९

अर्थ—उसने समुद्र के किनारे पर जाकर वहां पर बने हुये उस ऐरावण राजा के पुर को देखा तो उसे स्वर्ग से अधिक सुन्दर पाया अतः वह एकाएक अचम्भे में भर गया।

दशधाशततोरणोन्नतं नगरद्वारमुदीक्ष्य दुर्गमं ।
मदविंशतिलक्षमेलितं व्यहरत्तत्परितः क्षणादितः ।२०

अर्थ—उसने जब उस नगर के द्वार की ओर देखा तो उसके एक हजार तो तोरण बने थे और बीस लाख योद्धाओं से वह युक्त था इसलिये उसमें कोई ऐसा वैसा आदमी घुस नहीं सकता था, ऐसा देखकर वह कुछ देर के लिये उस नगर की चारों तरफ घूमने लगा।

अथ पर्यटनार्थमागतैरैरावणभूपतेः सुतैः ।
अवलोक्य कुतः किमागतः किमुदन्तोऽसि भवानिपृच्छ्यत ।२१

अर्थ—इतने में ही घूमने के लिये आये हुये ऐरावण राजा के लड़कों ने उसे देखा तो शीघ्र उसके पास जाकर उससे उन्होंने पूछा कि आप कौन हैं, कहां से और किस लिये यहां पर आये हैं।

अलकापुरसम्भवो हयान्वयधर्त्ता पुरमन्दिदृक्षया
भवता मदमागतस्तथेत्यदितं सोऽस्य हयं च सत्पथे ।२२।

अर्थ—तब उसने उत्तर में कहा कि अलकापुर का रहने वाला हूं घोड़ों का रखना ही मेरा काम है किन्तु मैं आपके नगर को देखने की इच्छा से ही घूमता फिरता हुआ यहां आया हूं।

विनिशम्य निवेदितं तर्कहयरत्नोऽद्भुत इष्यते न कैः
कुतुकात् मदनुग्रहं हि तु स्वयमारोहणतः परीक्षितुं ।२३

अर्थ—यह बात सुनकर वे लोग बोले कि वस्तुतः आपका घोड़ा एक अपूर्व घोड़ा है इस बातको तो कौन नहीं मानेगा किन्तु

फिर भी अगर आप कहें तो हम खुद इस पर चढ़कर देखलें कि कैसा क्या है।

क्रमशः सकलैरथाश्मनन्तकमारूढ़तया निपातनं।
अनुभूतमतः समुत्थितं पुरि कोलाहल मा निवेदितं ।२४

अर्थ-ऐसा कहकर वे लोग क्रमशः एकेक करके चढ़े किन्तु जो भी उस पर चढ़ता था वह धड़ाम से नीचे गिर जाता था जिस से कि नगर में कोलाहल मच गया जो कि राजा के पास तक पहुँच गया।

समवेत्य समेत्य नीरुजा पुनरैरावणनामभूभुजा।
भगवन्नमनोक्तिपूर्वकं प्रभृतो वाजि अभूदिहानकः ।२५

अर्थ-जिसको सुनकर वह नीरोग शरीर का धारक ऐरावण राजा भी वहां आ पहुंचा और भगवान को नमस्कार करके उसने भी उस घोड़े पर सवारी की तो उसके चढ़ते ही वह घोड़ा एक साथ सीधा हो गया।

इति वीक्ष्य महोदयान्वितं समुवाचागत आत्मनोहितं।
नरनायक ! सम्वदाम्यहं भवतेऽस्मत्तनयापाणिग्रहम् ।२६

अर्थ-इस प्रकार आये हुये उस महा कच्छ ने ऐरावण राजा को बहुत पुण्यवान देखा तो उसने उससे अपने मन की बात कही कि हे नर नाथ मैं चाहता हूं कि आप मेरी लड़की का चलकर पाणिग्रहण करें।

सरिदेति पयोनिधिं न स सरितं सोऽप्युदेति संगमः ।
प्रचलेम इतो महाशय ! कथमिक्ष्वाकुकुलोद्भवा वयं ।२७

अर्थ—इस पर ऐरावण ने जवाब दिया कि हे महाशय ! आप का कहना तो ठीक है किन्तु समुद्र के पास नदी स्वयं आ पहुँचती है न कि समुद्र उसके पास जाया करता है यह एक मानी हुई बात है । तिस पर भी हम लोग इक्ष्वाकु कुल में पैदा हुये हैं फिर हम लोग उपर्युक्त नियम का उल्लंघन कैसे कर सकते हैं अर्थात् आप चाहें तो उसे यहां लाकर मेरे साथ विवाह सकते हैं ।

इत्याकर्ण्य निजात्पुरादिह महाकच्छः प्रियङ्गुश्रिय,
मानेतुं प्रचकार तत्र पथि तत्कन्यानुरक्तोऽह्रियं ।
त्यक्त्वैकः खलु वज्रसेनवचनः सपोऽनुलग्नः कलेः,
सम्पातः समभूत्तयोः स्तवकगुच्छोपकण्ठ स्थले ।।२८।।

अर्थ—ऐसी बात सुनकर वह महाकच्छ राजा अपनी लड़की प्रियङ्गुश्री को अपने गांव में से यहां लाने के लिये तैयार हुआ । वह उसे ला ही रहा था कि रास्ते में उसके पीछे एक वज्रसेन नाम का व्यक्ति लज्जा त्याग कर हो लिया जिसकी कि नजर उस लड़की पर पहले ही से लगी हुई थी एवं उन दोनों की ठीक स्तवकगुच्छ नगर के समीप में आकर मुठभेड़ हो गई ।

श्रुत्वैतदैरावणवागिहागादागत्य जित्वाऽरिमुपेत्य वारां ।
मानन्दमेष प्रचकार काल-क्षेपं तयाऽऽसा खलु भूमिपालः ।२९

अर्थ—जब इस बात को ऐरावण ने सुनी तो वह वहां पर झट से आया और वैरी वज्रसेन को जीतकर उसने उस लड़की के

साथ विवाह कर लिया एवं वह राजा उसके साथ आनन्द पूर्वक काल बिताने लगा।

इत्यनेन विरज्याऽऽग्राज्जिनदीक्षामुपाव्रजन् ।
वज्रसेनस्तपस्तेपेऽतिघोरं बहिरात्मनः ॥३०॥

अर्थ–इस बात का वज्रसेन के दिल पर यह प्रभाव हुवा कि वह विरक्त होकर जिन दीक्षा ले गया और अन्तरङ्ग से नहीं किन्तु ऊपर से उसने घोर २ तप करना शुरू कर दिया।

एकदा स्तवकगुच्छ-नगराद्बहिरास्थितः ।
निरीक्ष्य कुपितैर्लोकैः लगुडादभिराहतः ।३१।

अर्थ–यों तप करते २ एक बार वह स्तवकगुच्छ नगर के बाहर आ कर बैठा था कि उसे देख कर क्रोध में भरे हुये लोगों ने उसे लाठी वगैरह से मारना शुरू किया।

चिदाह नगरं सर्वं वामस्कन्धोत्थतेजसा ।
स्वयं च नरकं प्राप दग्ध्वात्मानमपात्ययसौ ॥३२॥

अर्थ–इससे क्रोध में आकर उस मुनिने अपने बायें कन्धे से निकले हुये तैजस पुतले से पहले उस सारे नगर को जलाया और बाद में खुद भी उसी में भस्म होकर नरक गया।

तथैव निर्वृत्तिगृहस्थलोकः सदान्तरात्मन्यनुबद्धशोकः ।
विराधकः सन्नखिलप्रजाया अवादि वृद्धैर्नरकं स यायात् ।३३।

अर्थ–बस इसी प्रकार गृहस्थ आदमी भी जो कि आजीविका से हीन होता है तो वह भी सदा अपने मनमे फिकर के

मारे जलता ही रहता है जिससे कि वह प्रजा के सभी लोगों को सताने वाला होकर नरक में पड़ता है ऐसा वृद्ध लोग कह गये हैं।

यः स्यात् परमुखापेक्षी श्वेव लोके विगर्हितः ।
स्वदोर्भ्यामर्जयेद्वृत्तिं सत्त्ववान सिंहविक्रमः ॥३४॥

अर्थ-अतः जो आदमी सिंह के समान साहसवान् है उसे चाहिये कि वह अपने हाथों से अपनी आजीविका करे, दूसरे के भरोसे पर न रहे, क्योंकि जो अपना पेट पालने के लिये भी दूसरों का ही मुंह ताका करता है वह इस दुनियां में कुत्ते की भांति निन्द्य माना गया है।

अथ तृतीय सर्गः

निशम्य तत्सम्भाषणमेतदेष श्रीभद्रमित्रो मृदुचित्तलेशः
समर्जितुं वित्तमथात्मनीन-दोर्भ्यामिदानीं समभूत्प्रवीणः ।१

अर्थ—इस प्रकार के वृत्तान्त को सुनकर वह कोमल चित्त का धारक लड़का भद्रमित्र अब अपने मन में सोचने लगा कि अपने हाथों से ही धन कमाना ठीक है ।

अतो नमस्कृत्य पितुः पुरस्तान्निवेदयामास विदामतस्ता ।
आदेश तस्यास्ति यतो गुरूणां फलप्रदोऽस्मभ्यमहःपुरूणां ।२

अर्थ—और इसलिये उसने अपने पिता के आगे जाकर उन से यह बात कही कि मैं भी अपने साथियों के साथ परदेश धन कमाने के लिये जाना चाहता हूं सो आज्ञा कीजिये, क्योंकि अपने से बड़े गुरुलोगों का आशीर्वाद ही हम लोगों को सफल बनानेवाला होता है ।

आदित्य उर्व्या रसभुक् समस्ति ततो हि सन्तापकरप्रशस्तिः ।
विधुः कलाभिः परिवर्द्धकः सन् पितुः प्रसक्त्यै जगतोऽप्यलंसः ।३

अर्थ—उसने कहा है पिताजी देखो कि सूर्य पृथ्वी के संगृहीत रसको ग्रहण करने वाला है इसीलिये वह सबको सन्ताप देने वाला बना हुआ है किन्तु चन्द्रमा अपनी कलाओं द्वारा पिता के धन को बढ़ाता है इसीलिये वह सारी दुनियां को प्यारा लगता है ।

ततोऽहमभ्यर्थये समर्जनाय वित्तस्य पापप्रतिवर्जनाय ।
भवाननुज्ञां प्रकरोत्विदानीमर्हन् स वै मङ्गलपूर्तिजातिः ॥४॥

अर्थ—बस यही बात सोच कर मेरा विचार होगया है कि मै बुराई से बचने और धन कमाने के लिये परदेश जाऊं, अतः अब आप आज्ञा करें और सब भला करनेवाला भगवान् अर्हन् है ।

तस्मै पिता प्रत्यवदत् सुतेति सहस्रभक्तं मे सुतरामुदेति ।
कार्याऽस्ति कुल्या सरसे यथाऽकिञ्जगन्तु पाथोनिधये तथा किं ।५

अर्थ—इस पर पिताने उत्तर दिया कि हे पुत्र तू भोला है, जरा सोच तो सही कि सरस्थल के लिये जिस प्रकार नहर बनाई जाती है उसी प्रकार समुद्र के लिये भी उसके बनाने की आवश्यकता होती है क्या ? किन्तु नहीं, क्योंकि वहां तो खुब ही नदियां आकर लबालब उसे भर रही हैं । इसी प्रकार मेरे तो सहज ही इतनी आय है कि जिसे कोई खाने वाला नहीं, फिर कमाना कैसा ?

एकाकि एवाङ्गज ! मे कुलाय: स्वयं त्वमानन्ददृशोऽनपाय: ।
दु:खायते मह्यमिदं वचस्ते किमाम यानं गुणसंप्रशस्ते ॥६॥

अर्थ—हे पुत्र पक्षि को घोंसले के समान मेरे कुल का आधार तो तू एक ही है जिस को कि मै देख करके ही राजी हो जाता हूं जिस पर भी तू अभी एक दम सीधा है, तेरा परदेश जाना कैसा ? वह तो अभी बहुत दूर है, हे गुणों के भण्डार अभी तो यह तेरे परदेश जाने की बात ही मुझे कष्ट देती है ।

निशम्य पुत्रः पुनरित्युवाच सत्यान्विता भो भवतां तु वाचः ।
तथापि कर्तव्यपथाधिरोह-वशंवदः साम्प्रतमागतोऽहम् ॥७॥

अर्थ यह सुनकर भद्रमित्र बोला कि आप का यह सब कहना तो ठीक ही है, मैं भी मानता हूं कि मेरे दूर होने में आपको कष्ट होगा परन्तु हे पिता जी मैं मेरे कर्तव्य पालन के वश हूं, इस लिये आपके पास आज्ञा चाहता हूं ।

हे तात तातस्य निरेपजात-मात्रस्थितिर्यातिरिनिधेः प्रयातः ।
सुखेन खे नर्मनिधर्विधाति-शयप्रदः सन्विहरन्विभाति ॥८॥

अर्थ हे पिताजी मेरे बालकपन के बारे मे आप विचार करते है सो देखिये समुद्र का पुत्र चन्द्र तो जन्मते ही उससे दूर होगया था जो कि लोगों के विनोद की छटा को बढ़ाता हुआ प्रसन्नता से आकाश मे विहार कर रहा है ।

देहेन यास्यामि मनोऽस्तिरस्तु तथापि ते पादपयोजवस्तु ।
साफल्यदानाय्तु च ते शुभाशिर्वादो यतो मामिह रक्षितासि ।९।

अर्थ और हे पिताजी मै जाऊंगा भी तो सिर्फ शरीर से जाऊंगा किन्तु मेरा चित्तरूपी भौंरा तो आप के चरण कमलों मे ही बसा रहेगा तथा आपके शुभाशीर्वाद से मुझे सफलता भी शीघ्र ही मिल जायेगी, जिस आप के आशीर्वाद से हम लोग यहां पर भी फलते फूलते हैं ।

एवं निशम्योदितमत्र पित्रा भवन्ति वाचः सुत ! ते पवित्राः ।
आपो यथा गांगझरस्य यत्त्वं पुनीतमातुः ममितोऽसि सत्त्वं ।१०

अर्थ —इस प्रकार फिर यहां पिताने कहा कि हे बेटा तेरे वचन मीठे और सुहावने हैं जैसे कि गंगा से आये हुये निर्झरने का जल, क्योंकि तू तो भली मां से पैदा हुवा है ।

कठोरभावान्निजमानसेऽहन्नूदयाद्रिवत्तो जननीह किन्तु ।
रवेर्विनाऽऽकाशततिर्यथास्या तमोभरा त्वद्रहिता त्वदास्या ।।११।

अर्थ हे बेटा मैं तो गिर उदयाचल के समान कठोर दिल वाला हूं अतः सम्भव है कि तेरे बिना रह भी जाऊंगा किन्तु सूर्य के बिना जिस प्रकार आकाश की सत्ता अन्धकार पूर्ण हो जाती है उसी प्रकार तेरी मां तो तेरे बिना मुंह बा कर मर पुरा वेगी ।

इतीरितोऽस्येत्य स जन्मदात्रीं नत्वा जगादोत्तमपुण्यपात्रीं ।
मातर्वयस्यैः सह यामि देशान्तरं शुभाशीर्वितनात् ते मा ।१२।

अर्थ- इस प्रकार कहने पर फिर वह वहां से चला और उत्तम पुण्य को भोगने वाली एवं अपनी जन्म देनेवाली मां के पास आकर नमस्कार करके बोला कि हे माताजी मैं अपने साथियों के साथ देशान्तर को जा रहा हूं सो आप शुभाशीर्वाद दें ।

कृत्वाऽत्र मामम्बुजसम्बिहीनां सरोवरां मङ्गज ! किन्तु दीनां ।
किल्लोचितं यातुमिति त्वमेव विचारयेदं धिषणाधिदेव ! ।१३।

अर्थ—इस पर माता बोली कि बेटा तूने क्या कहा, भला जरा तू ही तो विचार कर कि मुझे यहां पर कमल रहित तलैया के समान दीन बना कर हे बुद्धि के भण्डार ! क्या तेरा जाना उचित है ? ।

इत्येवमुक्तः प्रतिवादमाह बालोऽत्र नाहं भवतीं त्यजामि ।
नेष्यामि यास्यामि महात्मनात्म-चित्तेनिधायेत्युत सम्वदामि ।।१४

अर्थ—इस माता के कहने के जवाब में वह भद्रमित्र लड़का बोला कि नहीं, मैं आपको यहां पर नहीं छोड़ रहा हूं, अपितु मैं जहां भी जाऊंगा वहां अपने चित्तमें विराजमान करके आपको अपने साथ में ही लिये रहूंगा इस में जरा भी गलती नहीं है, यह आप ठीक समझें ।

उत्साहसम्पन्नतया विशेषाद् दृष्टं विचार्यास्य विचारमेषा ।
चिक्षेप लाजांश्च शिरःप्रदेशे दृशः पुनर्मञ्जुपथप्रवेशे ।।१५।।

अर्थ—माताने जब देखा कि इसका विचार अटल है और उत्साह भी सराहनीय है जिसका कि भंग करना भी ठीक नहीं है तो उसने विशेष कुछ न कह कर उसके शिर पर मंगल सूचक धान की खीलें क्षेपण कर दीं और अपनी दृष्टि उसके पवित्र मार्ग की ओर फैलाई ।

मातुः पदाम्भोजरजः शिरस्त्रं नमोऽस्तुसिद्धेभ्य इतीदमस्त्रं ।
स सम्बलं श्रीशकुनप्रकारं लब्ध्वा प्रतस्थे गुणवान् कुमारः।१६।

अर्थ—उस गुणवान् कुमारने माताके चरण कमलों की रज का अपने मस्तक पर टोप बनाया, सिद्धेभ्यो नमोस्तु इस प्रकार के उच्चारण को हथियार बनाना और रवाना होते समय जो अच्छे २ शकुन हुये वही उसे रास्ता खर्च मिला, इस प्रकार मंगल पूर्वक वह वहां से रवाना हुवा ।

यथा सुशास्त्राद्विधिनान्तरीपात् जग्राह विद्वान् दुरितप्रतीपात् ।
तत्त्वोक्त रत्नानि सुबुद्धिनावा समेत्य मद्भिः सह तैस्तदा वा ।१७

अर्थ—जैसे कि एक विद्वान् मनुष्य अपने सहपाठी लोगों के साथ उत्तम शास्त्र को पढ़कर उसमें से जीवादि सात तत्वों को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार उस भद्रमित्र लड़के ने भी नावमें बैठकर अपने साथियों के साथ रत्नद्वीप जाकर वहां से यथा रीति उसने सात रत्न लिये ।

अथैकमस्मिन भरते विभाति मनोहरं सिंहपुरं सुनाति ।
राज्ञाप्यभूत्तस्य पुनः पदेन प्रसिद्धिमाप्तः स्वतु सिंहसेनः ।१८

अर्थ-किञ्च इसी भरत क्षेत्र में एक सिंहपुर नामका नगर है जो कि देखने में बड़ा ही सुन्दर है, जिसकी सड़क या मकानों की पंक्ति बहुत ही अच्छी हैं उस नगर का राजा उस समय सिंहसेन था ।

सेना यतः सिंहपराक्रमाणां सामोदमुष्याऽतिशयान्नराणां ।
सृणिप्रकाराऽरिमतङ्गजेभ्यः सोऽन्वर्थनामा समभूद्यथेभ्यः ।१९

अर्थ-उस राजाका सिंहसेन नाम सार्थक ही था क्योंकि उस राजा के पास जो सेना थी वह सिंह सरीखे पराक्रमी सैनिकों से युक्त थी ताकि वह वैरी रूप हाथियों के लिये अंकुश का काम देती थी ।

राज्ञीह नाम्ना भुवि रामदत्ता निसर्गतः शीलगुणैकसत्ता ।
रतिः स्मरस्येव सुरूपराशिः समर्थिता लोकहिताय दासी ।२०

अर्थ—उस राजा के जो रानी थी उसका नाम रामदत्ता था जो कि इस धरातल पर होने वाले शीलादि गुणों को सहज स्वभाव से ही धारण करने वाली थी और रूप सौन्दर्य का भी भण्डार थी जैसी कि कामदेव की स्त्री रति हुआ करती है इतने पर भी वह लोक हित के कार्यों में दासी के समान हर समय जुटी रहती थी।

श्रीभूतिनामा सचिवोऽस्यपूर्वा-ङ्गिनः सदा दुर्हृदयप्रसूतिः।
सूत्रिस्त्वहो विप्रकुलात्तथापि यत्रेषु कांगस्य यथा कदापि।२१।

अर्थ—उस राजा के श्रीभूति नाम का मन्त्री था, यद्यपि वह ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ था फिर भी आश्चर्य है कि जीवों में कावा सरीखा था जिसके मन में सदा बुरी वासना बनी रहा करती थी ताकि उससे जब कभी खोटी चेष्टा ही बन पड़ती थी।

असत्यसत्काऽनवधानतोऽपि स्यां चेद्व्रवेयं त्वनयाऽसुलोपी।
समेतिकण्ठे विधृताऽसिपुत्री येनासकौ वञ्चकतातिसूत्री।२२

अर्थ—उसने जनता में यह प्रगट कर रक्खा था कि मै कभी झूठ नहीं बोल सकता और इसी लिये उसने यह कहकर कि "अगर कहीं असावधान पनेसे भी मेरे से झूठ बुल गया तो मैं इससे मेरे प्राण गमा दूंगा" अतः अपने गले में एक छुरी बान्ध ली थी।

ख्यातिंगतो भद्रपरस्परायां नालीकवागित्यसकौ धरायां।
राज्ञाऽप्यवापापि तु सत्यघोष-नामान्तरंगे सुतरां सदोषः।२३

अर्थ—जिससे कि उसकी इस पृथ्वीतल के भोले लोगों में यह कभी झूठ नहीं बोल सकता है इस प्रकार की प्रसिद्धि हो गई

थी और इसीलिये यद्यपि वह अपने मन में सहज कपट रखते हुये था फिर भी उसने राजा से भी सत्यघोष नाम पा लिया था।

यथैव सासादनतः सुदृष्टं मिथ्यात्वयोगो व्रजतेऽत्र सृष्टः।
तत्पत्तनं प्राप च भद्रमित्रः श्रीभूतिना योगमवाप तत्र।२४

अर्थ-जिस प्रकार इस धरातल पर सम्यग्दृष्टि जीवका सासादन गुणस्थान में पहुंचकर फिर मिथ्यात्व से सम्बन्ध हो जाया करता है उसी प्रकार उस भद्रमित्र लड़के का उस सिंहपुर में पहुंचकर उसी श्रीभूति नाम ब्राह्मण के साथ संयोग बना।

दत्त्वा पुरस्कारमथेष्टमस्मै जगाद भद्रो भवतामहन्तु।
स्थातुं समिच्छामि सबन्धुवर्गः पुरेऽत्र तत्सम्मतिनो भवन्तु।२५

अर्थ- भद्रमित्र ने आदर पूर्वक श्रीभूति को बहुत सा पुरस्कार देकर फिर उससे कहा कि हे महाशय मैं भी मेरे माता पितादि सहित आपके नगर में बसना चाहता हूं जिसके लिये आप आज्ञा करें तो बहुत अच्छा हो।

तेनोदितं बाढमहो वसेत युष्माकमस्तूत्कलना न चेतः।
तथा प्रचक्राम इतो वयन्तु क्षेमं समन्तांजिनपा नयन्तु।२६

अर्थ-उसने कहा कि हां हां तुम लोग जरूर आकर रहो, हम तुम्हारे लिये ऐसा हिसाब लगा रहे हैं कि तुम लोगों को कोई भी प्रकार की अड़चन न हो पावे, इसके ऊपर तो फिर सबका भला करने वाले जिन भगवान हैं।

विश्वस्य भद्रः कपटोक्तिभिस्तां श्रीभूतयेऽस्मै मृदुमञ्जुचेताः ।
रत्नान्युपन्यस्य जगाम नातुं स्वकीयमातापितरौ तदा तु ।२७

अर्थ- उस कोमल और सरल चित्त वाले भद्रमित्र को उसके बनावटी कहने पर विश्वास हो गया, अतः वह अपने पास के रत्न उस श्रीभूति के पास धरोहर के रूप में रखकर अपने माता पिता को लाने के लिये चला गया।

प्रत्यागताय प्रतिदातुमुक्तिः कृतेऽप्यमुष्मायकरोत्तु प्रयुक्तिः ।
निराशताभृद्वचसः सरोषः भयादतीतो दुरितप्रभोः सः ।२८

अर्थ-जब भद्रमित्र अपने घर जाकर वहां से वापिस आया और अपने दिये हुये रत्न जब उसने वापिस मांगे तो भयङ्कर से भयङ्कर पाप से भी नहीं डरने वाले उस श्रीभूति ने गुस्से मे आकर उससे नीचे लिखे अनुसार निराशता के वचन कहे ।

रे रे किमुज्जल्पसि कोऽसि नाहं जानाम्यपि त्वां कुत आगतोऽसि ।
दूरं व्रजोन्मत्त ! मृषोक्तिकोऽसि संज्ञायते भूतपिशाचदोषी ।२९

अर्थ—अरे ! अरे ! क्या कह रहा है तू, कौन है, मैं तो तुझे जानता भी नहीं कि तू कहां का रहने वाला है और कहां से आ रहा है, हे पागल ! दूर हट, कैसा झूठ बोलने वाला है ? जान पड़ता है कि तुझे कोई भूत या पिशाच लग गया है इसीलिये तू ऐसा बक रहा है ।

रत्नानि दृष्टान्यपि किं कदाचित्कथञ्चिधानीन्यथं ते हृतानिचिद् ।
श्रुत्वेति भद्रोऽपि ममाहनामा-दिकं ग्रमूनां निरवद्यधामा ।३०

अर्थ—भला तेरी बुद्धि मारी गई है ? रत्नों का तेरे पास में होना तो दूर किनारे रहो अपितु रत्नों को तुमने आँखों से कभी देखे हैं क्या कि कैसे होते हैं ? ऐसी बात सुनकर भद्रमित्र फिर खूब जोश में होते हुये बोला कि हां मैने देख ही नहीं है किन्तु उस उस रङ्ग के अमुक रत्न मेरे पास थे।

जगर्ज चाहं शृणु विप्र ! रत्न-द्वीपादुपादाय पुनीतयत्नः ।
दत्वा ममानिनुमगांकुल्यादीन्कुतो भवानेवमलीककारी ।३१।

अर्थ-उसने गर्जकर निर्भीकता के साथ कहा कि हे विप्र महाशय ! उन उपर्युक्त रत्नों को मै मेरे साथियों के साथ रत्न द्वीप जाकर वहां से लाया था और लाकर उन्हें वे आपके पास अच्छी तरह से रहेंगे ऐसा सोचकर आपके पास रखकर मै मेरे मां बाप को लाने के लिये चला गया था, अब भला आप इतने बड़े आदमी होकर इस प्रकार क्यों झूठ बोलते हो ?

तथापि कः प्रत्ययितास्ययावत्: स्यातियतोविप्रवरस्य सा च ।
निष्कासितोऽतःप्रतिनादृत्य लोकैः विक्षिप्त इत्येत्युपलब्धशोकैः ।३२

अर्थ—फिर भी उस बिचारे के कहने का कौन विश्वास करने वाला था ? क्यों कि उस ब्राह्मण की ऐसी प्रसिद्धि थी कि वह कभी झूठ नहीं बोलता। अतः उस एकाकी भद्रमित्र को पागल ठहराकर पहरेदार लोगोंने उसे मार पीट कर बाहर निकाल दिया।

गतो नृपद्वारं विनिष्फलत्वमेवाप्त्वभूत्केवलमात्मसत्वः ।
पुनः प्रतिप्रातरिदं ब्रुवाणः बभूव भद्रः करुणकशाणः ।३३

अर्थ-भद्रमित्र ने राज दरबार में भी पुकार की परन्तु वहां भी उस बिचारे की साक्षी भरने वाला कौन था ? इसलिये कुछ फल नहीं हुआ अन्त में वह प्रतिदिन सवेरे के समय नीचे लिखे अनुसार आवाज लगाने लगा ताकि लोगों को उस पर दया आ जावे।

श्रीसिंहसेनावनिपप्रसादादृसत्यघोषात्र यशोऽभिवादाः ।
भवन्ति ते किन्तु यशोवृषादि विनाशनायास्ति कुतः कुवादी ३४

अर्थ-वह हर रोज यों कहकर पुकारने लगा कि हे सत्यघोष ! श्रीसिंहसेन महाराज की तेरे ऊपर बड़ी भारी कृपा है जिससे कि तेरी इस भूतल पर इस प्रकार कीर्ति फैली हुई है और लोग तेरी प्रतिष्ठा कर रहे हैं परन्तु फिर भी तू इस प्रकार बिलकुल सफेद झूठ क्यों बोलता है, इस से तो तेरा यश और धर्म दोनों ही एक दिन नष्ट हो जावेंगे।

हे विप्रराट् ते कृपया नृपस्य समस्तवस्तूत्कत्र एव पश्य ।
तथापि तृष्णा बत नो प्रशान्तादवृत्तिमेवानुकरोति कान्तां ।३५

अर्थ-हे विप्रों के राजा कहलाने वाले ! श्री सिंहसेन महाराज की दया से तेरे सब बातों का ठाट है किसी चीज की कमी नहीं है फिर भी खेद है कि तेरी तृष्णा नहीं मिटी प्रत्युत बढ़ती जा रही है ताकि ऐसी चोरी करने सरीखी बुरी चेष्टा को अपना रहा है ।

मिमानदीनस्य वस्प्रणाशात् किं शाम्यतां तेऽपधियो दुराशा ।
नाशाय किन्तु प्रभवेद्दिनादं विनिश्चिनु त्वं भगवद्विलासात् ।३६

अर्थ–इस प्रकार मुझ गरीब के रत्न हड़प लेने से तुझ खोटी बुद्धि वाले की दुराशा क्या कभी शान्त हो सकती है ! नहीं, कभी नहीं । प्रत्युत याद रख अगर भगवान ने चाहा तो यह तेरा यह दुष्कर्तव्य तेरे ही नाश करने वाला बनेगा ।

अथैकदा भूमिरुहोपरिष्टात्स्थितस्य दीनस्य समस्तिरिष्टौ ।
राज्ञी किलार्धानवर्तीत्थमुक्तिमाप्तासिमतः कृतैन दृढमुक्तिः ।३७

अर्थ–इसी प्रकार वह रोज ठीक समय पर पेड़ पर चढ़ कर अति दीन एवं करुणा जनक स्वर में पुकारा करता था सो इस प्रकार की उसकी आवाज को रानी रामदत्ता ने सुना, मानों आज उसके कष्ट के दिन खतम ही होने पर आये । रानी सुनकर विचारने लगी ।

प्रातरेव समागत्य नित्यमेवानिशोदिति ।
एकत्रूनमिति स्वामिन्नविक्षिप्त इवोच्यते ।३८

अर्थ-और राजा से बोली कि हे स्वामिन ! यह प्रवासी रोज सबेरे ही इसी पेड़ पर आकर ठीक उसी एक बात को लेकर रोता है, इसलिये हे नाथ यह पागल नहीं है किन्तु—

विनिश्चिनोमि यत्किञ्चिद्रहस्यमिह विद्यते ।
भवनाद्य समासक्ते स्थातव्यं धीरचेतसा ।३९

अर्थ–इसमें कुछ न कुछ रहस्य भरा हुवा है जिसका कि पता लगाना आवश्यक है, अतः इसको आज मैं खुब जांच करूंगी ।

हे धीर वीर ! आप तो ऐसा करना कि राज दरबार लगाकर कुछ देर वहीं बैठना ।

इत्युक्त्वा तूष्णीमस्थाद्राज्ञी तावदिहागतं ।
श्रीभूतिं वीक्ष्य सम्प्राह शृणु मन्त्रिन्ममेप्सितं ।४०

अर्थ–राजा से इस प्रकार कह कर रानी चुप ही हो पाई थी कि इतने में श्रीभूति भी वहां आ पहुंचा, उसे देखकर के रानी बोली कि हे मन्त्रीजी सुनो आज तो मेरी एक इच्छा है ।

श्रुतमस्ति भवान् दक्षः शतरञ्जाख्यखेलने ।
भवता कलयिष्यामि तदद्य गुणशालिना ।४१

अर्थ–सुना है कि आप शतरंज खेलने में बड़े चतुर हैं, इस लिये आज मैं आप सरीखे चतुर पुरुष के साथ में शतरंज खेलूंगी ।

सम्मानपूर्वकमिति प्रतिपत्तिदा वा संक्रीडके नमनु चाटुवचः प्रभावात् ।
सद्यो विजित्य परिमुग्धमितोऽसिमस्य यज्ञोपवीतमपि मुद्रिकया समस्य

अर्थ–इस प्रकार सम्मान पूर्वक उसको उस रानी ने खेलने के लिये बिठा लिया, जिस खेल में कि रानी की मीठी मीठी बातों में फंसकर वह अपने आपको भूल गया अतः रानी ने बहुत ही शीघ्र उसके गले में की छुरी, जनेऊ और उसकी मुद्रिका इन तीनों को जीत लिया ।

दास्यं समाह खलु तत्त्रयमेव दत्वा राज्ञीति मन्त्रिसदनं शृणु दासि गत्वा
भद्रस्य रत्नगुलिकां द्रुतमानय त्वं किं सम्वदानि परमत्र तु वेत्सि तत्वं ।

अर्थ—फिर रानी, दासी को बुला कर यज्ञोपवीत वगैरह तीनों चीजें उसे देकर बोली कि हे दासी ! सुन, तू मन्त्रीजी के घर जा और इनकी घरवाली से भद्रमित्र के रत्नों की पुटरिया शीघ्र ही मांग कर के ले आ, बस इतना कर। इसके सिवा जो बात है सो तू सब जानती ही है।

गत्वा तद्गृहमेषका च सहसा मन्त्री सभायां स्थितः भो भो भद्रिनि भद्रमित्र वसुकं सारं तु मे देहि तत् । इत्युक्त्वा समर्प्य रत्नपिटकं राज्यै तदेषा ददौ, संसिद्धन्त्यभिवाञ्छितं मनसि चेत् स्या दर्हतां श्रीपदौ ।४४।

अर्थ—दासी ने शीघ्र ही जाकर ब्राह्मणी से कहा, हे भद्रिन जी ! मन्त्री जी तो राज सभा में बिराजे हैं और उन्होंने अपनी जनेऊ वगैरह तीनों चीजें निशान रूप में भेजी हैं कि तू जाकर भद्र मित्र के रत्नों की पिटारी मेरे घर में ले आ, अतः आप उसे दे दीजिये, ऐसा कह कर उन रत्नों को लाकर दासी ने रानी को देदिये ठीक ही है भगवान के चरणों को याद करने वालों के सब काम सिद्ध हो जाते हैं ।

अथ चतुर्थ सर्गः

नृपोऽथ तान्याप्य परैः समं पुनः स भद्रमित्रं निजरत्नवस्तुनः ।
विवेचनायाह न नीतिमार्गिनो ददाति वक्तुं प्रतिवादिने स्थितिं ।१

अर्थ–राजा ने उन रत्नों को लेकर उन में बहुत से और रत्न मिलाकर भद्रमित्र को बुलाया और उससे अपने रत्न पहिचान लेने को कहा क्योंकि, जो नीतिमान पुरुष होते हैं वे दूसरोंको बोल ने के लिये कोई भी जगह अपने कार्य में नहीं रहने देते ।

स्वानि जग्राह स प्रभुर्जनितः स्वकानि तान्यानि विवेकवानितः ।
स्पृशन्त्यनो च्छिष्टमिवान्यदीयमित्यहोधनं साम्प्रतमात्मसंयमी ।२।

अर्थ वह भद्रमित्र अपने रत्नों को खूब पहिचानता था और सन्तोषी था इसलिये उसने उनमें से अपने २ रत्न उठा लिये । ठीक ही है जो अपने आपको वश में रखने वाले होते हैं वे दूसरे के धन को जूठन के समान मानकर छूते तक नहीं हैं । यही बड़ी बात है ।

इतीदृशं तोषयुतं वणिक्सुतं सवेत्य सन्तुष्टतया महाभुजः ।
इदं दिमार्गान्नमहानयं पुनर्नियोगवान श्रेष्ठिपदं ममस्तु नः ।३

अर्थ—इस प्रकार उस वैश्य बालक को सन्तोषयुक्त देख कर राजा के मन मे विचार आया कि यह कोई एक महा पुरुष है और इस तरह से सन्तुष्ट होकर फिर वह बोला कि इस भद्रमित्र को हमारा राज श्रेष्ठी समझा जावे ।

महीसुरं पापिधुरं च दण्डितं विधाय धम्मिल्लममात्यमात्मनः ।
चकार शिष्टस्तवने न निग्रहो दुरीहितस्येति नरेश जीवनं ।।४

अर्थ—और पापियों में प्रधान उस सत्यघोष ब्राह्मण को कठोर दण्ड देकर उसके बदले में धम्मिल्ल नाम के आदमी को राजा ने अपना मन्त्री बनाया, सो ठीक ही है, शिष्ट पुरुषों का आदर करने के साथ २ दुष्ट का निग्रह करना ही राजाओं के जीवनका मूल है ।

अतोऽपमानादतिदुःखितोमही सुरः परित्यज्य तनुं वभावहिः ।
महीशकोपस्थल आर्त्त भावनः मनुष्यता निष्फलतां गता वत ।।५।।

अर्थ—राजा के द्वारा इस प्रकार अपमानित होने के कारण सत्यघोष ब्राह्मण को बहुत ही दुःख हुआ इसलिए वह चिन्तातुर होकर मरा और इसी राजा के भण्डार में सर्प हुआ। आशय तो यह कि उसने अपने मनुष्य जन्म को बेकार खो दिया ।

अथामनाख्यानवनेकृतस्थितिं निरीक्ष्य भद्रोवरधर्मकं यतिं ।
तदीयवाचामनसाभवत् शुचिः स दानधर्मं कृतवान् पुनर्मुदे ।६।

अर्थ—अब इधर भद्रमित्रने एक दिन आमनाभिधान वनमें आकर ठहरे हुये वरधर्म नामक मुनिराज के दर्शन किये और उन्होंने जो सदुपदेश दिया उससे उसके मनमें पहले से और भी अधिक सन्तोष आगया, अतः अब वह अपनी सम्पत्ति का दिल खोल कर दान करने लगा ।

निरीक्ष्य माताऽस्य च दानशालितां निपातयामास दुरीहिताश्रिता ।
तथापि यस्याभिरुचिर्यतो भवेन्निवार्यते किं खलु सा जनैर्जवे ।७।

अर्थ—उसको इस प्रकार दान देनेमें तल्लीनताको देख कर उसकी माता से न रहा गया क्योंकि वह लोभिन थी, इसलिये उसने उसे ऐसा करने से रोका किन्तु संसार में जिसकी जिधर को रुचि हो जाती है वह किसी के रोकने से नहीं रुका करती।

अनेन चिन्तातुरमानसा तु सा विपद्य च व्याघ्रि अभूदहो रुषा।
मतिर्विभिन्ना प्रतिदेहि जायते तथागतिस्तस्य किलार्हतांमते ॥८॥

अर्थ:—वह दान देने से नहीं रुका इससे उसकी माँ के मनमें बहुत चिन्ता पैदा हुई और इसीसे वह रोष पूर्वक मरकर व्याघ्री हुई। देखो, भगवान अर्हन्त के मतमें बतलाया है कि प्राणि प्राणिकी विचारधारा भिन्न २ होती है और वह उसी के अनुसार आगे को गति प्राप्त करता है।

विभक्षितोऽसौ च तया कदाचनाऽपि रामदत्तोदरतो महामनाः।
नरेशसूनुत्वमवाप तावताऽत्रसिंहचन्द्राभिधया सतः सतां ॥९॥

अर्थ किसी एक दिन उस भद्रमित्रको उसकी माताके जीव उस व्याघ्रीने खा डाला इसलिये मरकर रामदत्ता के उदर से उसी सिंहसेन राजा के सज्जनोंका प्यारा सिंहचन्द्र नामक पुत्र हुवा।

तदनु पश्चादपि पूर्णचन्द्रनामकसहोदरस्तेन समन्वितः स वा
परस्परप्रेमसुधापरीक्षणः समावभौ दाशरथिः सलक्ष्मणः ॥१०॥

अर्थ—इसके बाद उसके एक पूर्णचन्द्र नामका भाई और हुवा, अब ये दोनों परस्पर प्रेमामृत का पान करते हुये श्रीराम और लक्ष्मण के समान रहने लगे।

कदापि राजा निजकोषमध्यतः परीक्ष्य रत्नादि विनिर्गच्छतः
निबद्धवैरेण च तेन भोगिनां वरेण दष्टः सहसैव कोपिना ॥११॥

अर्थ— अब एक रोज राजा सिंहसेन अपने खजानेमें रत्न वगैरह को सम्भाल बाहर हो हो रहा था कि इतनेमें जिसका इसके साथ पूर्व जन्मका वैर था उस कुपित हुये सत्यघोषके जीव नागने एकाएक आकर इसे काट लिया ।

भिषग्वरा अस्य विशुद्धिहेतवे समाहूताः कोऽत्र जनः क्षमो भवेत्
इतीच्छया किन्तु न कोपि भूभुजः विषोऽपहाराय समर्थतां गताः ॥१२

अर्थ— इसको निर्विष नीरोग करने के लिये बहुत से विष वैद्य बुलवाये गये कि देखें इनमें से कौनसा आदमी इसे स्वस्थ कर सकता है किन्तु उस राजा के शरीर में होने वाले विषके असर को दूर करने के लिये उनमें से कोई भी समर्थ नहीं हुआ ।

समेत्य मन्त्रोच्छ्रितपावके किल प्रवेश्य मन्त्रैः परिनिर्गतोऽखिलः
पृदाकुवर्गः समतीत्य भोगिनं तदाऽमुकं दुष्टसापराधिनं ॥१३॥

अर्थ—इसपर फिर एक मन्त्रवादीने मन्त्र के द्वारा अग्नि तैयार की उस अग्निमें से भी उसे खोटे विचारवाले एक सर्प को छोड़ कर और सब सर्प निकल कर जीवित निकल गये ।

निवेदितो गारुडिनाऽपि नो विषमिहोद्धर्तुमहिः स रोषतः ।
विवेश वह्नौ च मरणं दहितामवाप कुतेऽत्र पुनर्न नाहितान् ॥१४॥

अर्थ—गारुडिने जब उसको उसका विष वापिस खेंचने के लिये कहा तो रोष की वजह से विषको तो उसने वापिस नहीं लिया

प्रत्युत बाध्य होकर वह सर्प उस अग्नि में गिरकर भस्म होगया तथा मरकर वह उसी नगर के समीप के बन में पापके कारण चमर मृग हुवा।

महीमहेन्द्रोऽशनिघोषसद्द्विपः बभूव यच्छोकवशादिहाक्षिपत्।
उरः स्वकीयं मुहुरातुरा तदाऽपि रामदत्ताम्मदशा वशंवदा ।।१५।।

अर्थ—राजा भी मरकर अशनिघोष नाम का हाथी हुवा, इधर रामदत्ता उस के शोकमें अपनी उस शोचनीय दशापर विचार करते हुये अपनी छाती कूट कूटकर रोने लगी और बहुत दुःखी हुई।

अथैकदा दान्त हिरण्यसम्मति-सुमार्यिकाभ्यां प्रतिबोधिता सती।
गताऽऽर्यिकात्वं गुणिसम्प्रयोगतः गुणी भवेदत्र जनोऽवनावितः।।१६

अर्थ—अब कुछ दिन बाद इसको दान्तमति और हिरण्यवती नाम की दो आर्यिकाओंका समागम होगया उन्होंने इसे समझाया तो यह भी उनके पास आर्यिका बन गई सो ठीक है कि इस भूतल पर गुणवानका संयोग पाकर अवगुणी आदमी भी गुणवान बन जाता है।

स सिंहचन्द्रो नृपतामुपाव्रजच्च पूर्णचन्द्रो युवराजतां गतः।
सुखेन कालं कतिचिद् व्यतीतवानथाप्यगात् पूर्णविधुर्मुनिर्महान् १७

अर्थ—राजाके मरजाने पर सिंहचन्द्र को राजा और पूर्णचन्द्र को युवराज बनाया गया एवं दोनों का समय सुख से बीतने लगा तब फिर एक रोज पूर्णविधु नामके मुनिका इधर आना होगया।

समीपमेतस्य मुनिस्त्वमाश्रितश्चन्द्रसिंहचन्द्रोऽनपदूरं यतः ।
स्फुरन्मनःपर्ययचारणर्द्धिनः समन्वितःसन्दृढसंयमाश्रितः ।१८।

अर्थ—उन मुनिराज के पास सिंहचन्द्र भी मुनि बन गया और उसने बहुत ऊंचे दर्जे का तप किया जिससे कि सच्चे दृढ़ संयम का धारक होने से वह मनःपर्ययज्ञान और चारणर्द्धि का धारक होगया।

मनोहरेनामवनेऽभिवन्दितुः समागतं सिंहविभुं तमामिमं ।
स्मरन्निर्दहसंयतमार्यिकाऽऽगताऽऽत्रामदत्ताऽधिपति पुनः सती ।१९

अर्थ—एक दिन कामदेव को जीतने के लिये तीक्ष्ण बाण सरीखे प्रतीत होने वाले उन सिंहचन्द्र मुनिको मनोहर नाम के वन में आये हुये जानकर वह रामदत्ता नाम की आर्यिका उन गुरु पुरुषों के शिरोमणि मुनिराज की वन्दना करने के लिये गयी।

मुनीश ! सज्जनचकोरचन्द्रसन्मयोऽन्तरङ्केन मुनाङ् तार्यमन ।
भवाम्बुधौ पोतवरोत्तम ! प्रभो निवेदनं मे नतिपूर्वकं च भोः ।२०

अर्थ—वह उन्हें नमस्कार करके कहने लगी कि हे मुनीश ! हे सज्जनरूप उत्तम चकोरों के लिये चन्द्रमा के समान ! हे मन के अन्धकार को मेटने के लिये एक प्रतीप सूर्य हे संसार समुद्र से पार करने के लिये उत्तम जहाज सरीखे सब लोगों के प्रभो ! मेरी एक प्रार्थना है।

जनुष्यमुष्मिन्भवतोऽनुजोऽस्ति यः समान्यजो भोगविलासमक्रियः ।
करोतु धर्मग्रहणं न वा प्रभो ! समादिशेदं कृपयास्तु वत्र भोः ।२१।

अर्थ—हे धर्म रूप मकान के लिये परकोटेका रूप धारण करनेवाले आप मुझे यह बतलाइये कि जो इस जन्म में आप का तो छोटा भाई और मेरा अङ्गज होता है जो कि आज राजा होकर भोग विलास में लगा हुवा है, हे प्रभो कभी वह भी धर्म धारण करेगा या नहीं।

इतीरितः प्राह मुनिर्महाशयः स्वपूर्वजन्मश्रवणाद् वृषाश्रयः।
स सम्भविष्यत्ययिमातरुत्तर-प्रर्णातये पुण्यनिधीश्वरोत्तरः।२२

अर्थ-रामदत्ता के प्रश्न को सुनकर उदार और गंभीर हृदय के धारक मुनि महाराज बोले कि हे माता उत्तम पुण्य का भण्डार वह जब अपने पूर्व जन्म की बात सुनेगा तो फिर अपने उत्तर जन्म को सुधारने के लिये धर्म का सहारा पकड़ेगा।

ददामि तेऽमुष्य कियद्भवावलि-वचोऽस्मि यः सज्जनपालको बली
यदस्तुतच्चित्तसरोजसत्कलि-विकाशनायार्कमहः किलाञ्जलि।२३

अर्थ-इसलिये मैं उस सज्जनों के पालक बलवान राजा के कुछ पूर्व भवों का वर्णन तुझे सुनाता हूं सो जाकर बताना उससे उसके मनरूप कमल की कलिका जरूर खिल जावेगी जैसे कि सूर्य के घामसे।

मृगायणः कोशलदेशमध्यिज-प्रवृद्धनाम्नीह जनाश्रये द्विजः।
यदङ्गनाऽऽसीन्मधुराऽनयोः सुताऽथ वारुणीनामसुरूपसंस्तुता।२४

अर्थ-इसी भरत क्षेत्र में कोशल देश के मध्य में वृद्ध नाम का एक गांव है, उसमें मृगायण नामका एक ब्राह्मण रहता था जिस के मधुरा नाम की औरत थी उन दोनों के संयोग से एक वारुणी नाम की अच्छे रूपकी धारक लड़की पैदा हुई।

अथाऽत्रयोध्याधिपतेः सुवल्लभा मनोहराङ्गी सुमिताभिधा व्यभात् ।
द्विजः स मृत्वा समजायताङ्गजा हिरण्वतीव स्मरभूभुजोभुजा ।२५

अर्थ—इधर अयोध्या नगरी के राजा की प्यारी रानी सुमिता नाम की थी जो कि मनोहर अंग की धारक थी। वह मृगायण ब्राह्मण मर कर उन दोनों राजा रानी के हिरण्वती नाम की लड़की हुई जो कि कामदेव की भुजा के समान हुई।

क्रमाच्च सा बाल्यमतीत्य यौवनमवाप शापादिव पुण्यमात्मनः
वनी विपत्राद्विशिरादिवोज्वरं यथा वसन्तं सुमनोहरं परं ।२६

अर्थ-वह शापके समान अपने बालकपनको उल्लंघन करके पुण्यके समान खूब ही सुहावने यौवन को प्राप्त हुई जैसे कि वनी पत्तों से रहित होनेवाले शिशिर काल को पार करके फूलों से लदे हुये वसनको स्वीकार करती है।

सुपोदनाधीश्वरपूर्णचन्द्रतः सहाभवत् पाणिपरिग्रहोत्सवः
यथा सुराणामधिपेन सौख्यदः पुलोमजाया सुहृदूपसम्पदः ।२७

अर्थ—इसके बाद उस सुन्दररूपकी धारक हिरण्वती का विवाह पोदनपुर के राजा पूर्णचन्द्र के साथ से हुआ जो कि सुख देने वाला हुवा, जैसा कि इन्द्राणी का इन्द्रके साथमें।

त्वमत्र मातर्मधुराख्यया सुता तयोरिदानीं गुणरूपसंस्तुता
पिता पतिः स्तात् सुतानतो जनो जनन्यपीह क्रमवेद् भवाध्वनि ।२८

अर्थ—हे माता जो उस मृगायण ब्राह्मण की औरत मधुरा थी वही तूं आकर पूर्णचन्द्र राजाके रानी हिरण्वती की कूख से

भले गुण और अच्छे रूपकी धारक लड़की हुई है। संसार की ऐसी ही व्यवस्था है कि इसमें पिता तो पति बन जाता है, स्त्री से लड़की, लड़की से स्त्री और माता भी यह जीव बन जाता है।

अत्रैहि भद्रोत्तरमित्रसंज्ञित सकामितो यस्य कृतं त्वया हितं
इहाकरोतीह तु पूर्णचन्द्रतां तवाथ याऽऽसीत्खलु वारुणीसुता ।२०।

अर्थ भद्रमित्र जिसका नाम था, रत्न वापिस दिलाकर जिसका तूने भला किया था वह मैं अब तेरा सिंहचन्द्र नाम लड़का होकर तप कर रहा हूं और वह तेरी वारुणी नामकी लड़की थी सो आकर तेरे पूर्णचन्द्र नामका लड़का हुआ जो कि अब राज्य कर रहा है।

नरोऽल्पकामेन भवन्कलत्रतामुपैति कामातिशयात्स एव ताम्
स एव घोरस्मरभागद्रुमतामहो दशेयं तनुधारिणां मता ।३०।

अर्थ—यह जीव जब कि स्वल्प काम वासनावाला होता है तो उसकी वजह से पुरुष शरीर धारी बन जाता है किन्तु जब इसे कामकी उत्कट वासना सताती है तो वही स्त्री बन जाया करता है और घोर विपरीतादि कामवासना के वशमे तो नपुंसकपन को ही प्राप्त हो लेता है। इस प्रकार इस संसार में इन शरीर धारियो का नर से नारी और नारी से नपुंसक या पुरुष, इसी प्रकार अवस्था बदला करती है।

स भद्रबाहोर्निकटे मुनिर्भवन् पिताऽऽपि ते पूर्णविधुश्च मामवन्
उवाह सर्वावधिबोधमुज्ज्वलं निर्गायते यच्छिवत्वर्मसम्बलं ।३१।

अर्थ—तुम्हारे पिता पूर्णचन्द्र तो भद्रबाहु नामके श्रीगुरुके निकटमें मुनि होते हुये सर्वावधि ज्ञानके धारक बन गये, जो कि सर्वावधिज्ञान मोक्षमार्ग में कलेवे का काम करता है, उसी भव से मुक्ति दिलाने वाला है। उन्हीं पूर्णचन्द्र मुनिराजके पास मैं भी मुनि हुवा हूं।

सदार्यिका दान्तमतिः प्रतीयते गतार्यिकात्वं च ततोऽम्बिका च ते
करोति नारी जनुरत्रसार्थकं विनाव्रतैर्जीवनमस्त्यपार्थकं ।३२।

अर्थ—आर्यिकाओंकी नायिका दान्तमति के पास तेरी माता भी आर्यिका बनकर अपने इस नारी जन्म को सफल बना रही है, क्योंकि बिना व्रतोंके धारण किये यह नर जन्म व्यर्थ ही कहा जाता है।

तवासुनाथोऽशनिघोषहस्तितां गतोऽथ मां मारयितुं च मे पिता
समागतो बोधमवाप्य बोधितः व्रतं दधाति स्म तदात्मनं हितं ।३३।

अर्थ—हे माता तुम्हारे स्वामी और मेरे पिता राजा सिंहसेन मरकर अशनिघोष हस्ती हुये हैं। वह अशनिघोष हाथी एक रोज मुझे देखकर मेरे मारने को आया तो मैंने उसे समझाया जिससे कि समझ कर उसने मेरे से व्रत ले लिये जिससे कि उसकी आत्मा का उद्धार हो।

स एकदा मासिकवृत्तपारणा-परायणोऽम्भःस्थलमेत्य पङ्कवान्
निमज्य निर्गन्तुमशक्त इत्यतः समाधिमेव प्रचचन्ध संस्मरन् ।३४

अर्थ—वह एकबार एक महीने का उपवास करके पारणाके लिये नदीमें पानी पीने को गया तो कीचड़ में फंस गया, उपवासों के

करने से कमजोर हो चुका था इसलिये ही वह वहां से वापिस निकल न सका। एवं उचित समझ कर धर्मभावना से उसने समाधि धारण करली।

सत्यघोषचरः सर्पो योऽव्रजच्चमरेणतां
अहितां पुनरप्याप्त्वा दष्टवान् मस्तकेऽमुकं ।३५।

अर्थ— सत्यघोष का जीव सर्प होकर जो चमरमृग हुवा था वही मरकर फिर सर्प हुवा और उसीने आकर इसको माथे में काट खाया।

शान्तितस्तनुमुत्सृज्य सहस्रारस्य स द्विपः
रविप्रभाख्योमयाने श्रीधरत्रिदशोऽभवत् ।।३६।।

अर्थ-किन्तु उस हाथीने अपने परिणामों को नहीं बिगाड़ा, शान्तिके साथ शरीरका परित्याग किया जिससे कि सहस्रार स्वर्ग के रविप्रभ विमान में श्रीधर नाम देव हुवा।

मारितः किल धम्मिल्ल-चरेण कपिनाप्यहिः
तृतीयं नरकं प्राप रौद्रध्यानवशंगतः ।।३७।।

अर्थ—इधर धम्मिल्लमन्त्री का जीव मरकर जो बन्दर हुवा था उसने आकर के उस सर्प को भी मार डाला जो कि रौद्र परिणामसे मरा इसलिये तीसरे नरक में गया।

व्याधेन तस्य धनमित्र उपेत्य मुक्तादंतौ न तावुपजहार नृपाययुक्ताः
सद्वापदानि ददतः कुतलैस्तु हारं पूर्णेन्दुरात्मनिगले स्वयमुद्दधार ।३८

अर्थ—व्याधने उस हाथीके दांतों और मस्तकमें के मोती निकालकर लेजाकर धर्ममित्र सेठ को बेच दिये जिन्हें लेकर सेठने राजा पूर्णचन्द्र को भेंट कर दिये जिनमें से हाथी दांतों से तो राजाने अपनी खाट के चारों पाये बनवा लिये हैं और उन गजमुक्ताओं का हार बनवा कर उसने अपने गलेमें धारण कर रखा है।

अप्रमादितया पूर्ण चन्द्रस्याह्लादकारिणः
नमोमथनमित्येतत्कथनं मातरिष्यते ॥३०॥

हे माता ! प्रसन्नता को देनेवाले पूर्णचन्द्र का अन्धकारको दूर करने वाला यह कथन है जो कि मैंने तुझे सावधानी के साथ सुनाया है।

अथ पंचमो सर्गः

श्रीमुनेः सदुपदेशमुपेताऽथार्यिका भवविरक्तसुचेताः ।
पूर्णचन्द्रमभिबोधयितुमागादागता परहितैकविचारा ॥२॥

अर्थ-उपर्युक्त प्रकार से श्री मुनि महाराज के उपदेश को सुनकर संसार से अत्यन्त विरक्त है चित्त जिसका एवं अन्य सब लोगों के भी भले करने का है विचार जिसका ऐसी वह रामदत्ता आर्यिका शीघ्र ही वहां से पूर्णचन्द्र को समझाने के लिये आई ।

वीक्ष्य मातरमिहोत्थितवान्नत्वा भव्य तत्क्रमयुगं स्वमुदे वा ।
पृष्टवानिति स पुत्रकाय मादिश त्वदनुकूलकराय ।२।

अर्थ-माता आर्यिका को आई हुई देखकर जिसका होनहार अच्छा है ऐसा वह पूर्णचन्द्र आसन से उठ खड़ा हुआ और अपने भले के लिये उसने उनके चरणों को नमस्कार किया फिर उसके बाद उसने माता पूछा कि हे माताजी हम आपके आदेश के अनुसार चलने वाले पुत्र के लिये क्या आज्ञा है सो कहिये ।

सा जगाद सुत ! मर्त्यभवेन सर्वजन्मसु बृहद्धिमवेन ।
संयुतोऽपि हि समञ्चसि भोगानात्मनाऽनुभवितुं किल रोगान् ।३

अर्थ-इस पर आर्यिका बोली कि हे पुत्र इस संसार के सम्पूर्ण जन्मों में सर्वोत्कृष्ट महिमा वाले इस मनुष्य जन्म को पाकर

भी अपने आप से ही रोगों को अर्थात् नरकादि के दुःखों को अपनाने के लिये आज भी इन भोगों को ही भोगने में एकान्त रूपसे लगा हुवा है सो क्या तेरे लिये ऐसा करना उचित है क्या ? नहीं, क्योंकि

रोग एव नरके पशुयोनावग्नि मोऽगणितकष्टमहो ना
भोगभागपि भवन् स्वरितोऽयमन्ततोऽग इव भान्यपतोयः ।४

अर्थ–देख बेटे ! यह संसारी प्राणी भोगों में फंसकर उसकी वजह से नरक में पड़ता है वहां तो इसके लिये रोगों के सिवा कुछ है ही नहीं, रात दिन भूख प्यास मारणताड़न और आधि व्याधि को छोड़कर एक समय भी शान्ति के लिये नहीं होता। वहां से निकल पशु पर्याय में आता है तो वहां पर भी भूख प्यास सर्दी गर्मी वगैरह के अगणित कष्ट इसे सहन करने पड़ते हैं। और फिर वहां से वापिस नरक प्राप्त करता है, अगर कहीं भाग्य से स्वर्ग भी चला गया तो वहां भी पहलेकी की हुई कमाई को भोग कर अन्त में बिना पानी के सूख गये हुये पेड़ की तरह से धड़ाम से नीचे गिरता है

योग एक इह मानवतायामेवमुद्धरितुमस्तु अपायात्
भोगतो गमयतः पुनरेतां किं भवेदनुभवेद् दृढ़चेताः ।५।

अर्थ–अगर एक ऐसा योग जो कि इस आत्मा को बुराइयों से बचाकर इसका भला कर दे वह इस मनुष्य गति में ही प्राप्त हो सकता है किन्तु जो आदमी इसको भी पाकर ऐसा योग नहीं मिलाता प्रत्युत इसे भी भोग भोगते हुये ही खो देता है फिर उसका

क्या हाल हो इस पर भी जरा दृढ़ चित्त वाले को विचारना ही चाहिये ।

रागतो हि विषयेषु निबन्धः सम्भवेद्यत इयानयमन्धः
स्वस्य हानिमपिनानुविधत्ते येन किं प्रणिगदानि महत्ते ।६।

अर्थ—परन्तु यह मनुष्य मनुष्य होकर भी विषयोंमें लुभा रहा है ताकि इस प्रकार अन्धा हो कर उनमें फँसा रहता है उनके द्वारा होती हुई अपनी स्पष्ट हानि को भी नहीं देखा करता बस इससे अधिक मै तुझसे क्या कहूं ?

हस्तिनं झषमलिं च पतङ्गं नागमेकविषयाद् धृतभङ्गं
यामि चेत् सकलेन्द्रियभोग-भोगिनोनुरिह कोऽस्तु नियोगः ।७।

अर्थ—हे वत्स हम देखते हैं कि हाथी, मछली, भौंरा, पतंग, और सर्प ये सब स्पर्शनादिक एक एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर ही जब अपना इस प्रकार नाश कर लेते हैं तो फिर पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों को भोगने मे लगे रहनेवाले इस आदमी की क्या दशा होगी ?

त्यागतस्त्वनुभवेदनपायं कं स पंजरगकीर इवायं ।
मुच्यमान इह मञ्चणकानां कुम्भवद्धकपिवच्चनिदानात् ।८।

अर्थ—यह जीव उस पिजड़े में बन्द हुये तोतेके समान या भूंगड़ों के घड़े पर जाकर भूंगड़ों को ही ग्रहण करने से पकड़े जानेवाले बन्दर के समान अन्तमे त्याग करने से ही आपत्ति से मुक्त होता है ।

भूरिशः समुपदिश्य तदन्ते पुत्र ! वच्मि शृणु पूर्वभवं ते
यन्मया मुनिमुखाच्छ्रुतमासीत्त्वं बिभर्षि सुकृतैकसुराशिः ।९।

अर्थ—इसप्रकार संग्रहण करने से तो यह जीव दुःखी किन्तु त्याग करने से मुक्त होकर बे रोक टोक सुख यह जीव अवश्य प्राप्त करता है इस तरह और भी बहुतसा उपदेश देकर अन्तमें आर्यिका माताने कहा कि हे बेटे तू पुण्य का भण्डार है अतः अब मैं तेरे पूर्व भवों का वर्णन जैसा कुछ श्री मुनिमहाराज के मुंहसे सुना है उसी प्रकार कहती हूं सो हे पुत्र तू सुन।

सेत्युदीर्य निजगाद तदुक्तं संहिताय नरपस्य समस्तं ।
येन तस्य हृदयाब्जविकाशस्तेजसेव सममूद्विभासः ।।१०।।

अर्थ—इस प्रकार कहकर उस आर्यिकाने जो कुछ मुनिमुख से सुना था वह सब उस राजा के भले करने के लिये साम वाक्यमे नीतिके सूक्तों से उसे सजाकर अच्छीतरह से कह सुनाया जिसके कि सुनने से उस राजा का हृदय प्रसन्न होगया जैसे सूर्यकी प्रभाके तेज से कमल खिल जाया करता है।

सत्यपूर्णमकरोत् स्वमतं स श्रीजिनान्वयसरोवरहंसः ।
अर्हतामुत सतां कृतशंसः सर्वतो न्यगमदाशितवंशः ।।११।।

अर्थ—अब अपने वंशरूप सरोवर के हंसको समान आच-रण वाले उस राजाने अपने विचार को सन्मार्गके अनुकूल कर लिया और भगवान अर्हन्त जो कि प्राणीमात्र का भला करनेवाले हैं अतः जो सभीके पूज्य हैं उनका तथा सन्तपुरुषों का सम्मान

करते हुये वह सब लोगों का शिरोमणि होकर के घरमें रहने लगा अर्थात् गृहस्थ धर्म का अच्छीतरह पालन करने लगा।

सर्वकर्मसु भवन परमात्मा-नुस्मरो ऽप्युपगृहीतमहात्मा।
स्वस्यदुश्चरितमाप स निन्दन तत्परस्य विधिनाप्यनुविन्दन ।१२

अर्थ— अब वह जो भी कार्य किया करता था उसमें सब से पहले परमात्माका स्मरण कर लेता था और साधु महात्मा लोगों का भी अपने घरपर वह बड़ी भक्ति के साथ स्वागत करने लगा, अपने आपमें कोई गलती होजाती थी तो उस पर वह बहुत पश्चाताप करता था तथा दूसरे के द्वारा किये हुये अपराध की अच्छी तरह जांच करके उसका उचित प्रतीकार करता था।

मा स्म कश्चिदपराधविहीनः स प्रमादवशतो भुवि दीनः।
दण्डितः स्वलु मयात्वपराधी तिष्ठताश्च यथास्य समाधिः।१३।

अर्थ— अब यह इस बात का पूरा पूरा विचार रखने लग गया कि शायद कहीं मेरे प्रमाद वश होने से मेरे द्वारा अपराध रहित किसी दीन आदमी को दण्ड न मिल जावे और कहीं ऐसी भी गलती न हो कि मेरी प्रजामे से कोई भी अपराधी होकर रहने लगे।

सापि रामदत्तपूर्वकदत्ताऽन्ते समाधिवशतोऽन्त्रभवत्तां
शोइपाद्यपमितायुरुपेत-भास्कराख्यसुरतां स्वरितेतः।१४।

अर्थ— इधर रामदत्ता आर्यिका ने आयुके अन्तमें समाधि पूर्वक अपने शरीर का त्याग किया जिससे कि वह स्वर्ग जाकर

षोडश सागर की आयुवाला भास्कर नामका धारक देव होकर वहां के सुख भोगने लगी। महा शुक्र स्वर्गके एक विमान का नाम भास्कर है।

पूर्णचन्द्रनृपोऽपि तथैवान्तेऽर्हतांस्तवनतो मृदुद्वान् ।
देवतामनुबभूव मृदा वै-डूर्यनाम्नि स्वपदे शुभभावैः ॥१५॥

अर्थ—पूर्णचन्द्र राजा भी अपनी आयुके अन्तमें अर्हन्त भगवान् को याद करते हुये महा शुभ भावों से मरा सो वह भी उसी महाशुक्र नामक दशवें स्वर्गमें जाकर वैडूर्य नाम विमान का अधिपति देव हुवा, जिसकी कि सोलह सागर का आयु है।

सिंहचन्द्रमुनिराट् चरमेसर्ग्रैवेकेऽथजनि नाम सुरेशः ।
प्रावृडादिसमयेष्वपियस्माभृदतीव कठिना सुतपस्या ॥१६॥

अर्थ-सिंहचन्द्र मुनिराजने वर्षायोग वगैरह को धारण करते हुए कठिन और सच्ची तपस्या की, ताकि वह अन्तिम ग्रैवेयक में जाकर इकतीस सागर की आयु का धारक अहमिन्द्र बना।

याम्यभागनियतस्य च भूधरस्यो निर्जीयपरिखाजितवार्द्धैः ।
पत्तनस्य धरणीतिलकस्या-दित्यवेगनृपो विजयार्द्धे ॥१७॥

अर्थ—अब इधर हमारे इस भरत के विजयार्द्ध पर्वत पर दक्षिण की तरफ में ही एक धरणीतिलक नाम का नगर है जो कि अपनी खाई के द्वारा समुद्र को जीत रहा है, उसी नगर का शासन करने वाला आदित्यवेग नामका राजा हो चुका है।

सम्वभूव च सुलक्षणिकाऽस्या-धीश्वरस्य शुचिरश्मिभृदास्या
भामिनी गुणवृन्तेव सुशाटी याऽपि शीलकुसुमोत्तमवाटी ।१८।

अर्थ—उस राजा के सुलक्षणा नाम की रानी थी, जिसका मुंह चन्द्रमाके समान निर्मल चमकीला था और साड़ी जिस तरह धागों से गुथी हुई होती है वैसे ही वह भी भले गुणों की भरी थी तथा शीलरूप फूल की भली वाटिका भी थी।

स्वर्गतो दशमतो महिमेव प्रच्युतः स खलु भास्करदेवः ।
पुत्रिका समभवल्ललितास्या श्रीधरेयमवनावभिधाऽस्याः ।।१९।।

अर्थ—दशवें स्वर्ग से रामदत्ता का जीव भास्करदेव चय कर उस दशम स्वर्ग की महिमा सरीखा इस भूतल पर आकर उस रानी की कूख से खूब ही सुन्दर मुंहवाली लड़की हुआ जिसका नाम भी श्रीधरा रक्खा गया था।

दशकोऽधिपतिरत्र गतायाः सन्मनुष्यवसतेरलकायाः
तेनसार्द्धमभवत् विवाहः प्रेमतन्त्वमनयोः समुदाह ।२०।

अर्थ—इसी विजयार्द्ध पर्वत पर एक अलका नामकी दूसरी नगरी का राजा दशक नाम वाला था जिसके कि साथ उस श्रीधरा का विवाह हुवा जिससे कि उन दोनों दम्पतियों में परस्पर में बहुत ही प्रेमका बर्ताव रहा।

एतयोर्द्दुहितृभावमपापः पूर्णचन्द्रचरदेव इहाप ।
नामतोऽपिगुणतोऽपियशा स सम्भवँश्च यशमः सुखधामः।२१।

अर्थ—और पूर्णचन्द्र राजा का जीव जो वैडूर्य विमान में देव हुवा था वह पुण्यात्मा वहां से आकर इन दोनों दर्शक और श्रीधरा के संयोग से पुत्री हुवा जो कि नाम से भी और गुण से भी दोनों ही तरह से यशोधरा होते हुये सुख का निवासस्थान ही हुवा।

साऽऽप भास्करपुरस्य च सूर्यावर्तभूमिपतिना रुचिभूर्या ।
पाणिपीडनमनन्यगुणेन सुप्रसिद्धयशसा सह तेन ।२२।

अर्थ—भास्करपुर का राजा सूर्यावर्त था जो कि बड़ा ही यशस्वी था अतः उसीके समान गुणोंका धारक था उस राजा के साथ में बहुत अच्छी कान्ति वाली उस यशोधरा का विवाह होगया।

सिंहसेननरदेवरोऽतः श्रीधरोऽपि भववारिधिपोतः ।
एतयोरिह भवत्सुतसारः रश्मिवेग इति नाम दधार ।२३।

अर्थ—सिंहसेन राजा का जीव अशनिघोष हाथी मरकर जो सहस्रार स्वर्ग के विमान में श्रीधर देव हुआ था वह वहां से चय कर अब संसार समुद्र से पार होने के लिये जहाज समान होता हुवा इन दोनों सूर्यावर्त और यशोधरा के संयोग से रश्मिवेग नामका पुत्र हुवा।

रश्मिवेगजनकोऽप्यथ माता सम्बिरज्य जगतः सुखजातात् ।
सञ्जगाम सहसा मुनितत्त्व मार्यिकात्वमिति संयममस्त्वं ।।२४।।

अर्थ—रश्मिवेग का पिता राजा सूर्यावर्त और उसकी माता यशोधरा दोनों ही सांसारिक सुख से विरक्त होकर एकाएक मुनि-पने को और आर्यिकापनेको प्राप्त होकर संयम का पालन करने लगे।

सन्निशम्य पुनरंगतदुदन्तं श्रीधराऽपि भगवज्जिनमन्तं ।
सन्निधाय हृदये गुणवत्या आर्यिकात्वमभजद्भुवि मत्याः ।२५।

अर्थ—यशोधरा की माता श्रीधराने जब यह वृत्तान्त सुना तो वह भी जिन भगवान को अपने मनमें स्मरण करके गुणवती नाम की उत्तम आर्यिका के पास जाकर आर्यिका बन गई।

रश्मिवेग इयदेत्य नृपत्वं भुक्तवान स्वजनकोत्तरसत्वं ।
स्वप्रतापजितभास्करदेवः व्याप्तवांश्चयशसा स्वयमेव ।२६।

अर्थ—इसलिये राजा बनकर रश्मिवेगने अपने पिता के उत्तराधिकार को भोगना शुरू किया जो कि अपने प्रतापके द्वारा तो जीतनेवाला हुवा और अपने चन्द्रमा सरीखे निर्मल यशके द्वारा सारे भूमण्डल पर प्रसिद्ध होगया।

सिद्धकूटजिनमन्दिरसेवां कर्तुमेत्य स निजात्मसुदे वा ।
चन्द्रमाप च हरीत्युपशब्दं भव्यचातककृते मुनिसब्दं ।२७।

अर्थ वह एक रोज सिद्धकूट जिनमन्दिर की पूजा करनेके लिये गया था तो वहां उसने हरिश्चन्द्र नाम मुनि के दर्शन किये जो कि मुनिराज भव्य पुरुष रूप पपीहों के लिये मेघके समान थे अतः उनके दर्शनोंसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

पादवन्दकतयात्त्वघलोपी चारणर्द्धिमहितादमुतोऽपि ।
सावधानमनसा खलु शर्म-कारणंजलमिवोत्तमधर्मं ।२८।

अर्थ—जो कि मुनिराज चारणर्द्धिके धारक थे उनको पहले तो उसने नमस्कार किया जिससे कि उसके पाप कर्म नष्ट होगये

इसके बाद वह सावधान मन होकर उनसे जलके समान सबको शान्ति देने वाले उत्तम धर्मके व्याख्यान को सुनने लगा।

सन्निपीय वहुपीनमनाम्मँम्नाववतैव तृप आप्य च नाशं।
योगितामनुचकार महात्मास्तः पुनः स्फुटभवन्मुद्गात्मा।२९

अर्थ—मुनिराज की वाणी को सुनकर उसके मनको बहुत खुशी हुई वह तृप्त होगया। जिससे कि उसको तृष्णा का नाश होगया जैसा पानी पीने से होजाया करता है बल्कि पानी से तो जठराग्निजन्य तृषा दूर होती है किन्तु उससे तो उसकी मानसिक तृष्णा का सदा के लिये अभाव होगया इसलिये उस महापुरुष ने सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सन्मार्ग को अपना कर फिर योगिपने को स्वीकार किया।

पापरोधितपसोऽतिशयेन चारणर्द्धिमधिगम्य च तेन।
योगिराजपदनाऽऽपि पुनीता यस्य विस्तृततमा गुणगीता।३०।

अर्थ—उसने दुष्कर्मोंको नष्ट करने वाला तप किया जिससे कि चारणर्द्धि को प्राप्त होकर वह योगि से पुनीत योगिराज बन गया जिसके कि गुणों का वर्णन बहुत ही बड़े शब्दों में हो सकता है।

किञ्च काञ्चनगिरेः सुगुहाया मास्थितस्य सुमुनेरुचितायां।
वन्दनार्थमनुकम्य कदापि श्रीधराऽऽय यशमश्वधरापि।३१।

अर्थ—अब किसी एक दिन वह योगिराज मुनियों के रहने योग्य कंचना गिरि की गुफामें आकर विराजमान हुवा और उस को

वन्दना के लिये श्रीधरा तथा यशोधरा नाम की दोनों आर्यिकायें भी आगईं।

निर्गतो नरकतोऽपि स पाप विप्रराट् च शयुजन्म समाप।
सोऽत्रतन्त्रयमनेककुजन्मानन्तरं समगिरद्रुषउन्मा ॥ ३२ ॥

अर्थ—इधर वह पापी ब्राह्मण सत्यघोषका जीव जो कि तीसरे नरक गया था वहां से भी निकल कर फिर अनेक कुयोनियों में जन्म मरण करते २ उसने अजगर का जन्म पाया वही यहां पर रोषमें आकर इन तीनों मुनि आर्यिकाओं को खागया।

अष्टमेऽजनि सुपर्वपुरे तैश्च त्रिभिर्दृढसमाधिसमेतैः।
प्राप्य चारुणि चतुर्दशसागर-सम्मितायुरुत दिव्यशरीरं ॥३३॥

अर्थ—उन तीनों ने दृढता से समाधि पूर्वक प्राण छोडे इस लिये वे तीनों ही भले सुख के देनेवाले आठवें कापिष्ठ नामक स्वर्ग में जाकर वहां पर चौदह सागर की आयुको प्राप्त कर दिव्य शरीरके धारक देव हुये।

अनुबभूव खलु दुःसहकष्टं यत्र रौद्रमानसोपदिष्टं।
शयुरपि पापपरम्परयाऽतः पङ्कप्रभानरकमुपयातः।३४।

अर्थ—इधर वह अजगर भी रौद्रध्यान पूर्वक मरा सो वह पङ्कप्रभा नामके चौथे नरक में जाकर अपने पापके उदय से वहां दुःसह कष्ट भोगने लगा।

अथ षष्ठः सर्गः

समस्त्यमुष्मिन् भरतेऽथ चक्र-पुरं पुनः शक्रपुरातिशायि ।
यतोऽधरं तत्सुधरं किलैतद्विराजते पूर्णतयाऽनपायि ।१।

अर्थ—अब इसी भरत क्षेत्र मे एक चक्रपुर नामका नगर है जो कि इन्द्र के नगर स्वर्ग को भी नीचा दिखाने वाला है क्यों कि स्वर्ग पृथ्वीतल पर न होकर अधर आसमान में है अत: वह हलका ही है और यह नगर तो एक पृथ्वी के सुन्दर भाग को घेर कर बसा हुवा है इसलिये सदा निर्दोष रूप से सुशोभित होता है।

लेखातिगं ना सुमनस्त्वमेति स्त्री चापि बुद्ध्याधिकृताऽङ्गनेति ।
रद्धश्रवस्त्वादतिवर्त्य राजा करोति सम्वीक्षणमङ्गभाजां ।२।

अर्थ—जिस नगर का रहने वाला हरेक आदमी, जिसका कि वर्णन लेखिनी से नहीं लिखा जा सकता या जिसका मिलना देव लोगों में भी कठिन है ऐसी उदारता का रखने वाला है। जहां की रहने वाली प्रत्येक औरत अच्छी रीति और भली बुद्धि की धारक होती है अत: देवियों को भी परे बिठाने वाली है और जिस नगर का राजा लम्बे कानों वाला या यों कहो कि देरी से सुनने वाला न होकर अपनी प्रजा की भली प्रकार देख रेख करता है इस लिये इन्द्र से भी बढ़कर है।

नगो न यो यत्र न भाति भोगी भोगी न सोऽस्मिन्न वृषोपयोगी ।
वृषोपयोगोऽपि न सोऽथ न स्याद्यथोचितं संगुणसम्प्रयोगी ।३

अर्थ—उस नगर मे ऐसा कोई आदमी नहीं रहता जो कि अपनी सम्पत्ति का उपभोग न कर रहा हो और वह उपभोग भी ऐसा नहीं होता जिसमें धर्म की भावना न हो अपितु लापरवाही से किया जा रहा हो। एवं धर्म का उपयोग भी ऐसा नहीं होता जो कि आगे से आगे बढ़वारी को न पाकर बीच में ही नष्ट हो जाने वाला हो या गुणों के समागम मे रहित होते हुवे निष्फल हो।

शीलान्विता सम्प्रति यत्र नारी शीलं सुसन्तानकुलानुसारि।
पित्रोरनुज्ञामनुवर्तमाना सर्माक्ष्यते सन्ततिरङ्गजानां ।४।

अर्थ—जहां की प्रत्येक औरत शीलयुक्त ही होती है कोई भी व्यभिचाररत नहीं होती। शील भी अपने २ कुलक्रम के अनुसार चलते हुये सिर्फ सन्तान को पैदा करनेवाला होता है और सन्तान वहां की ऐसी होती है जो कि अपने माता पिता की आज्ञा का पालन किया करती है।

अलेरिहान्यो मधुपो न चामन्वृक्षोऽपि नाम्नैव पुनः पलाशः।
स्वोप्तप्रशस्याय समस्ति यत्र लुण्टाकताथो न मनाक् परत्र ।५

अर्थ—जहां पर भौरे के सिवा और कोई मधुप यानी शहद खाने वाला अथवा नशेबाज नहीं और जहां पलाश अर्थात् मांस खोर होकर अपने जन्म को निष्फल करने वाला भी और कोई नहीं पाया जाता अगर है तो वह सिर्फ एक वृक्ष है वह भी नाम मात्र के लिये, एवं लुटेरापन तो अपने बोये हुये अनाज को बटोरने के सिवा और किसी भी तरह का कहीं पर भी देखने को भी नहीं मिलता।

वराजते मार्गणता शरेषु करस्य बाधापि पयोधरेषु ।
वियोगितोद्यानमहीरुहेषु वैफल्यमन्यत्र च किंशुकेषु ।६।

अर्थ—जहां पर मार्गण कहलाने वाला अगर कोई है तो एक बाण है परन्तु भिखमङ्गा कोई नहीं, करको बाधा भी युवतियों के कुचों में ही होती है अर्थात् उन्हें ही हाथ से पकड़ २ कर उनकी सन्तान चूसा करती है परन्तु कर यानि सरकारी चुङ्गी की बाधा कुछ भी नहीं है। वियोगीपना भी बगीचे के वृक्षों मे ही पाया जाता है क्योंकि उन पर पक्षी लोग निवास करते हैं परन्तु और किसी को किसी भी प्रकार का वियोग का दुःख नहीं होता और निष्फलपणा तो एक टेसू के फूलों में ही है किन्तु अन्य सभी के प्रयत्न सफल ही होते दीख पड़ते हैं ।

मराल एवात्रसरे सरोगः परं मुरल्यां विवरप्रयोगः ।
यत्र प्रवाहः स्विदपामधोगः सम्प्राप्यते चोडुगणो नभोगः ।।७।।

अर्थ— जहां पर सरोग अर्थात् तलाब पर रहनेवाला हंस ही पाया जाता है किन्तु कोई भी रोगी देखने को नहीं मिलता। मुरली में ही विवर अर्थात् छेद होते हैं किन्तु किसी का भी अनमेल विवाह नहीं होता और न कोई स्त्री को विधवापन का ही दुःख होता है। एक जल का प्रवाह ही नीचे की ओर जाने वाला है और कोई भी आदमी निन्द्य आचरण करने वाला नहीं है। नभोग कहलाने वाला भी जहां ताराओंका समूह ही है क्योंकि वह आकाश में घूमता रहता है बाकी और कोई मनुष्य भोगवर्जित नही है सब के पास सब तरह के ठाट पाये जाते हैं।

नर्मीश्यते योऽपिजनोऽप्रवृत्तिर्व्यर्थाकदाचिन्न समस्तिवृत्तिः ।
विभ्राजनेऽर्थोऽपि सदानभोग एवंविधो यत्र किलोपयोगः ।८।

अर्थ—जहां पर कोई भी ऐसा आदमी नहीं जो कि वृत्ति-रहित हो सभी लोग धन्धेशिर लगे हुये हैं धन्धा भी ऐसा नहीं जो कभी भी व्यर्थ पड़ता हो किन्तु कुछ न कुछ धन कमाने के लिये ही होता है और धन को सदा अपने काम में लाते हुये औरों की भलाई के लिये भी खर्च किया जाता है ऐसा हिसाब अनायास ही बना हुवा है ।

कदाचिदार्यादपराजिताख्यः पराजिताशेषनरेशवर्गः ।
राजा पुरेऽस्मिन्नुदितप्रतापो यथा ग्रहाणां दिवसेशसर्गः ।९।

अर्थ—किसी समय उस नगर का राजा अपराजित नामका था जिसने कि और सभी राजा लोगों को नीचा दिखा दिया था अतः वह ऐसा मालूम पड़ता था जैसा कि ग्रहोंमें सूर्य हुआ करता है जिसका कि प्रताप सब तरफ फैला हुवा था ।

राजापि निर्दोषतया प्रतीत शराधिकारी जडताभ्यतीतः ।
महाबलीन्थं कुवलाश्रितोरश्चोराप्रियः सज्जनचित्तचौरः ।१०

अर्थ—जो राजा अर्थात् चन्द्रमा होता है वह निर्दोष यानी रात्रि बिना नहीं होसकता परन्तु वह राजा भूपाल होकर भी निर्दोष था उसमें मद मात्सर्य आदि दोष नहीं थे । जो शराधिकारी होता है—पानी पर अधिकार रखता है वह जडता अर्थात् ठण्डक से दूर नहीं रह सकता किन्तु वह शर पर अधिकार करनेवाला—बाण वाहकों

में प्रधान होकर भी मूर्ख नहीं था। जो बलवान हो वह कुवलाश्रित अर्थात् बल हीन नहीं हुआ करता अपितु वह महा बली होकर भी कुवलाश्रितोरस्थल था-उसके गले में हर समय मोतियों का कण्ठा रहता था। इसी प्रकार वह चोरों का विरोधी होकर भी स्वयं सज्जनोंके चित्तका चुराने वाला था।

सा सुन्दरी नाम बभूव रामा वामासु सर्वास्वधिकाभिरामा।
राज्ञाधिराजस्य रतीश्वरस्य रतिर्यथाप्रीतिकरीह तस्य ॥११॥

अर्थ—राजाओं के राजा उस अपराजित के सुन्दरी नामकी रानी थी जो कि संसार की सभी औरतों से अधिक सुन्दरी थी इस लिये राजा को कामदेव को रति के समान प्यारी थी।

वेश्येव पंचेषुरसप्रवीणा दासीव सत्कर्मविधौ धुरीणा।
मंत्रे सभाया श्रुचि वाचि वीणा सा चेन्द्रस्य शचीव लीना।१२।

अर्थ—इन्द्र की देवी शची के समान वह रानी अपने स्वामी के लिये काम सेवन के समय तो वेश्या के समान सरस चेष्टा करनेवाली थी किन्तु उत्तम कार्यों के करने मे दासी के समान हर समय संलग्न रहती थी तथा सभा में राजा को मन्त्रोपन का काम देती थी जो कि बोलने में वीणाके समान बड़ी ही सुहावनी थी।

राज्ञः सदा मोहकरीव युक्तिर्यामौक्तिकोत्पत्तिकरीव शुक्तिः।
अनंगसन्तानमयीवमुक्ति-स्थलीह लावण्यवतीवभुक्तिः ॥१३॥

अर्थ—युक्ति जिस प्रकार शृङ्खलाबद्ध तर्कणा को लिये हुये होती है वह रानी भी राजा को सदा मोह पैदा करने वाली थी, सीप जैसे मोती को पैदा करती है वैसे वह भी मुक्तिगामी पुरुष को

जन्म देनेवाली थी। मुक्ति भूमि जैसे अशरीरी लोगों की परम्परा वाली होती है वैसे ही वह भी कामवासना का स्थान थी क्योंकि रसोई जैसे सलोनी होती है वैसे ही वह भी लावण्य सौन्दर्य की भरी थी।

सुतोऽभवत्तस्यप्रति सिंहचन्द्र-चरः सुरोऽस्याः सुतरामतन्द्रः।
चक्रायुधाख्यो निजधर्मकर्मण्यपृग्ग्रग्रः स्वजनाय शर्म ॥१४॥

अर्थ—सिंहचन्द्र का जीव जो नवग्रैवेयक गया हुवा था वह वहां से आकर इस रानी के उदर से चक्रायुध नाम का लड़का हुवा जो कि अपने कर्तव्य कार्य में स्वभाव से सावधान रहने वाला था इसलिये अपने पक्ष के लोगों को आनन्द देनेवाला भी था।

एतत्प्रजन्मन्यमुकस्य पित्रा महोत्सवोद्भावततिः पवित्रा।
आविष्कृताऽन्यैरपि पौरवर्गैस्तथानिसर्गोत्थितहर्षसर्गैः ॥१५॥

अर्थ जब कि इसका जन्म हुवा तो इसके पिताने बहुत ही ठाटके साथ जन्मोत्सव मनाया साथमे उसके सहज हर्ष की उमङ्ग से प्रजाके लोगों ने भी उसमे भाग लिया।

समुज्जगामेन्दुरिवाशु वृद्धि मुल्लासयन्मोदनिधिं जनानां।
धात्र्याऽनुरागाद्दिनश्रिया वा धृतः कलावान्प्रभवन्स्वमानात् ॥१६॥

अर्थ—सन्ध्याके समान अनुराग को धारण करने वाली अपनी धायके द्वारा लालन पालन को प्राप्त होता हुवा वह बालक चन्द्रमा के समान, अपने कुटुम्बके लोगोंके आनन्द समुद्र को बढ़ाने वाला होकर अपने आप सहज स्वभाव से कलाओं को धारण करता हुवा बढ़ने लगा।

अतीत्य कौमारमभून्मदङ्गः कुलायमिद्धः सुवयः प्रसंगः ।
श्रीपादपो वा सुमनस्त्वयुक्तः कुचो युवत्या अथवा ससुक्तः ।१७।

अर्थ–उपर्युक्त प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हुये उसने अपने कुमारपनका उल्लंघन कर दिया जिससे कि अब वह कामदेव से भी बढ़कर सुन्दर शरीर का धारक होगया और जिसप्रकार पक्षीको आश्रय देनेवाला घोंसला हुवा करता है उसीप्रकार नवयौवन को पाकर कुलवृद्धि करने के लिये विवाह योग्य होगया। एवं फलों से लदे हुये वृक्ष की तरह मानसिक विकाशयुक्त हो लिया अथवा युवति का स्तनमण्डल जिसप्रकार मोतियों से सुशोभित होता है उसीप्रकार वह भी सार्थक और सुसंघटित वचनों को बोलने लगा।

धराधिपानामिति चित्रमाला-द्यो ऽभवन पंचसहस्रबालाः ।
सत्कौतुकोत्पत्तिभुवो ऽमुकस्य शाखा यथा कल्पमहीरुहस्य ।१८।

अर्थ तब इसके कौतुक को उत्पन्न करने और बढ़ाने के लिये भले भले राजाओं की चित्रमाला आदि नामवाली पांच हजार लड़कियां सहयोगिनी हुई जैसे कि फूलोंसे भरी हुई कल्पवृक्ष की शाखायें।

एकस्य वृक्षस्य भवन्ति शाखा विधोरनेका अथवा विशाखाः ।
यथा पयोधेरपि भान्ति नद्यस्तथा युवत्यो ऽवनिपस्य सद्यः ।१९।

अर्थ—जिसप्रकार एक ही वृक्षके एक साथ अनेक शाखायें होती है अथवा एक चन्द्रमा के पीछे अनेक तारिकायें रहा करती हैं और समुद्रमें अनेक नदियां समा जाया करती हैं उसी प्रकार एक राजा के भी बहुत सी राणी होती हैं।

युवाऽगृहीद्वारिनिधेः समस्ता वभूवुरेताः सुरसाः समस्ताः ।
साचित्रमाला खलु तासु गंगावदुत्तमा स्फीतिधरी सदंगात् ।२०।

अर्थ—दरियावके समान उस नौजवान ने जिन औरतोंको स्वीकार की थी वे सभी यद्यपि एक से एक उत्तम रसको धारण करने वाली नदी सरीखी थी परन्तु उनमें चित्रमाला राणी तो गंगा के समान सबसे भली थी जो कि अपने उत्तम अंगपरसे अपूर्व स्फूर्ति दिखलाया करती थी ।

रताववंगाधिपतेः पताका रूपे परा तत्सदृशी मता का ।
तान्वाप यां संलपने पिकाऽपि नाभिस्तु यस्याः सरसेव वापी ।२१

अर्थ—वह पतिसे प्रेम करने में बहुत चतुर थी कामदेवकी पताका के समान थी रूप सौन्दर्य मे तो उसके बराबर दूसरी कोई थी ही नहीं बोलने में कोयल को भी परे बिठाती थी और उसकी नाभि तो एक रसकी भरी बावड़ी के समान दीख पड़ती थी ।

नवालता यत्रवभूव साऽधुना यतः समन्तान्मृदु सालकानना ।
महीपतेस्सं महिमानमभ्यगान्नितान्तमुच्चैस्तनसम्भवन्नगा ।२२।

अर्थ—अब उस चित्रमाला के शरीर में बालक पन बिलकुल भी नहीं रहा और मुखमण्डल पर मस्तक में अत्यन्त कोमल काले बाल होगये और स्तनरूप पर्वत खूब ऊँचे उभर आये थे इस लिये वह उस महीपति के साथ पृथ्वी के ही समान आदर का पात्र बन गई थी क्योंकि पृथ्वी पर भी साल वगैरह पेड़ोंका बन होता है नई २ बेलें भी हुवा करती हैं तथा ऊँचे २ पर्वत भी रहते हैं ।

सापीह सौभाग्यगुणानुयोगादनेन सार्द्धं सुकृतोपयोगा ।
तस्या यतो यौवनपादपस्तु बभूव मद्यः फलदानवस्तु ।।२३।।

अर्थ—वह राणी सौभाग्य के उदय से उस राजा के साथमें प्रेमपूर्वक पुण्यका उपभोग करने लगी जिससे कि उसका यौवनरूप वृक्ष शीघ्र ही फलदेने के सम्मुख हो लिया अर्थात् उसके गर्भ रहा।

कापिष्टतोऽभ्येत्य बभूव पुत्रः किलार्कदेवः स सुदंकसूत्रः ।
काले तदीयोदरतोऽस्य भाग्य-वरस्य वज्रायुध नामभाग्यः ।२४।

अर्थ—रश्मिवेग जो कापिष्ठ स्वर्गमें जाकर अर्कप्रभ देव हुवा था वही इस चक्रायुधके उस चित्रमाला को कूख से समय पाकर वज्रायुध नामका प्रसन्नता को बढ़ाने वाला पुत्र हुवा।

रामात्र पृथ्वीतिलकाधिपस्य नाम्नाऽतिवेगस्य खगेश्वरस्य ।
सौंदर्यशाखाप्रियकारिणीतिनाम्ना सुकामादिगुणप्रणीतिः ।२५।

अर्थ—इसी तरह विद्याधरों के मुखिया और पृथ्वीतिलक नगर के राजा अतिवेग के प्रिय कारिणी नाम की राणी थी जो कि सुन्दरताकी शाखाके समान थी और उत्तम काम पुरुषार्थादि गुणों की खानि थी।

श्रियोधराऽथाष्टमदेवधाम-गता ततोऽस्याउदरं जगाम ।
परस्परस्नेहवशेन बाला जन्माभवन्नाम च रत्नमाला ।।२६।।

अर्थ—श्रीधराका जीव अष्टम स्वर्ग में जाकर देव हुआ था वह वहां से आकर उस रानी के उदर से राजा और रानी के अत्यन्त स्नेह की वजह से पुत्री हुवा जिसका नाम रत्नमाला रक्खा गया।

बाल्यं विहायापि विवाहयोग्या लतेव चैत्रे भ्रमरेण भोग्या ।
स्वरूपतः कौतुकभाजि साऽरं नवे वयस्यत्र पदं दधार ।२७।

अर्थ—वह लड़की शीघ्र ही बालक पन को उल्लंघन करके विवाह के योग्य होती हुई अपने रूप के द्वारा कौतुक के भण्डार नव यौवन अवस्था को प्राप्त हुई जैसे कि एक लता फूलों के सम्पादक चैत्र के महीने को प्राप्त होती है और भौरे के द्वारा भोग्य बन जाती है ।

समं स चक्रायुधभूमिपाल-सुतेन तस्या उचितज्ञतातः ।
वज्रायुधाख्येन महोत्सवेन चकार पाणिग्रहणं पिताऽतः ।२८।

अर्थ—अतः उसके पिता ने उचित समझ कर चक्रायुध राजा के लड़के वज्रायुध राजकुमार के साथ बड़े ही ठाट से उसका विवाह करा दिया ।

यशोधरायास्त्रिदिवं य एवा-त्माऽऽगाद् द्वयोरेतकयो र्मुदे वा ।
स एव रत्नायुध इत्यपापं नाम व्रजन्नात्मजतामवाप ।२९।

अर्थ—यशोधराका जीव जो स्वर्ग गया हुवा था वही आ कर इन वज्रायुध और रत्नमाला नाम के दोनों दम्पत्तियों के संयोग से पुत्र पैदा हुवा जो कि सबको प्रसन्न करने वाला हुवा और रत्नायुध यह सुन्दर नाम हुवा ।

पित्रा च पुत्रेण च सार्द्धमस्य कालः कियानप्यत्यचलत्प्रशस्यः ।
चक्रायुधस्योत्तमपुण्ययोगात्स्वीकुर्वतोऽस्याभवतो सुभोगान् ।३०

अर्थ—इस प्रकार इस धरातल पर भी पुण्य के योग से पिता और पुत्रादि के साथ २ उत्तम भोगों को भोगते हुये उस चक्रायुध राजकुमार का प्रशंसा योग्य थोड़ा समय बीत चुका था।

कदाचिदुद्यानमलंचभूव तपस्विना श्रीपिहिताश्रवेण ।
ऋतूत्तमेनेव धरातलेऽस्य वसन्तनाम्ना सुमनोहरेण ।३१।

अर्थ—अब एक दिन उस चक्रायुध के बगीचे में पिहिताश्रव नाम के उत्तम तपस्वी आ बिराजे जो कि फूलों को स्वीकार करने वाले ऋतुराज बसन्त के समान देवतावों को भी प्यारे लगने वाले थे।

समुद्गमद्भृङ्गमरापदेशादुपात्तपापोच्चयसम्विलोपी ।
यस्मैकिलारामवरेण हर्ष-वरेण पुष्पाञ्जलिरर्पितोऽपि ।३२।

अर्थ—उन ऋषिराज के लिये उस भले बगीचे ने भी जब कि वे आये तो पुष्पाञ्जलि अर्पण की तो उसी समय प्रसन्नता पूर्वक मण्डराते हुये भौरों के बहाने से उस बगीचे के पूर्वोपार्जित पाप के अंश भी इधर उधर भागने लगे।

लता सता लास्यमिवोपतेनुः समीरिता मञ्जुसमीरणेन ।
समुच्चलत्पल्लवपाणिलेशमशेषमामोदमहारयेण ।३३।

अर्थ—प्रसन्नता पूर्वक सभी लतावों पर एक सुगन्ध की लहर निकलने लगी और मन्द २ बहने वाली हवा के द्वारा उनके पत्ते भी हिलने लगे जिससे वे ऐसी जान पड़ती थी मानों अपने हाथोंके इशारे से एक प्रकार का सुन्दर नृत्य ही करने लग गई हों।

रवेरिवात्मैकककवेहदार-भूतेऽनुभूते स मुदोऽधिकारः ।
उद्यान सम्पालककुक्कुटेनाऽपराजितः कोकट्वागमेना ।३४।

अर्थ—जब कि उस बगीचे के रक्षक माली ने जाकर खबर की कि आपके बगीचे में आत्मध्यानी मुनि महाराज आ बिराजे हैं तो यह सुनकर चक्रायुध का पिता अपराजित राजा बहुत प्रसन्न हुवा जैसे कि कूकड़े की आवाज से सूर्य का उदय जानकर चकवा पक्षी खुश हो जाया करता है।

समेत्य पश्चादभिवन्द्यपादौ जन्मास्त्वर्थौ यादृगभूदनादौ
परिश्रमः स्वस्य यथाक्रमं तं श्रुत्वाऽमुतो निर्विविदे स्विदन्तः ।३५

अर्थ—फिर वहां से मुनिराज के पास पहुँच कर अपराजित महाराज ने मुनि के चरणों में नमस्कार किया और उनके मुख से जैसा कि इस संसार समुद्र में अनादि काल से जन्म मरण होता आया है वह अपने आप का भी जब उसने सुना तो उसके मन में संसार से वैराग्य हो गया।

ततोऽत्र भोगाच्चभवादुदासी-भवन्महात्मा सुकृतैकराशिः।
विहाय देहादखिलं यदन्यद् दधौ यथाजातपदं स धन्यः।३६

अर्थ—इसके बाद संसार के भोग और इस शरीर से भी विरक्त होते हुये उत्तम कर्त्तव्य के स्थान उस महा पुरुष ने इस अपने साथ लगे हुये शरीर के सिवा बाकी की सभी बाह्य वस्तुओं का त्याग कर यथाजात नग्न दिगम्बर वेश को स्वीकार कर लिया एवं मुनि होकर धन्यवाद का पात्र बना।

चक्रायुधः प्राप्य पितुः पदं स भूमण्डलाशेषनृपावतंसः।
दधार दीनोद्धरणं स्वतन्त्वाऽर्हन्तं हृदा सत्यवचा भवन्त्वा।३७

अर्थ—इधर पिता के मुनि हो जाने पर चक्रायुध ने पिता के पद पर राजापन प्राप्त किया जो कि अपने कर्तव्य से शरीर द्वारा दीनों का उद्धार करने वाला और हृदय से हर समय श्री अर्हन्त भगवान को स्मरण करने वाला एवं सत्यवादी होते हुये इस भू मण्डल पर के सभी राजाओं का मुखिया बना।

दुष्टान्प्रति शल्यवदात्मधुर्यः शिष्टान्प्रति मृक्षणतस्सुहृद्यः ।
कुष्टान्प्रति सम्प्रति निम्बकल्पः प्रजासु राजायमभूत्सुजल्पः ।।३८

अर्थ—जिसने अपने आपको वश में कर रक्खा था इसलिये दुष्ट वैरियों के लिये वह शल्य के समान हर समय चुभने वाला था किन्तु सज्जनों के लिये मक्खन से भी अधिक कोमल था एवं उसकी प्रजा में जो आदमी कोढ़के समान बिगाड़ करने वाला होता था उसको निम्ब के प्रयोग के समान शीघ्र ही सुधारकर ठीक कर लिया करता था, इस तरह वह बहुत ही प्रशंसापात्र बन गया था।

वज्रत्वमापाद्य स दुर्जनेभ्यश्चिन्तामणित्वं भुवि निर्धनेभ्यः
सभ्येषु चूडामणितां प्रयातः स्पष्टं च तस्मिन्नररत्नताऽतः ।।३९।

अर्थ—दुर्जन लोगों के लिये वह वज्र अर्थात् हीरा की कणिका बनकर या मुद्गर समान होकर दीन लोगों को चिन्तामणि समान मनवांछित देनेवाला था और सभ्य लोगों में चूडामणि समान मुख्य गिना जानेवाला था इसप्रकार वह वस्तुतः नर रत्न था।

नक्षत्रशून्योऽपि सतां धुरीणः नवार्थसिद्धोऽपि पुनः प्रवीणः
अजिह्मवर्गः कलितोऽप्यहीनः उदाशयत्वान्निगतो नदीनः ।४०।

अर्थ—जो नक्षत्रों से रहित हो वह सत् अर्थात् नक्षत्रों का मुखिया नहीं होसकता परन्तु वह क्षत्रियों से रहित नहीं था इसलिये सत्पुरुषों का अगुवा हुवा। जिसके पास कोई भी वादित्र न हो वह भली वीणावाला कैसे हो सकता है किन्तु वह वादियों में प्रसिद्ध नहीं था, सफलवादी था क्योंकि वह प्रवीण यानी चतुर था। जो सीधे चलनेवालों से युक्त हो वह अहीन यानी सर्पोंका स्वामी नहीं होता किन्तु वह सरल लोगों से युक्त होकर बहुत बड़ा समझा जा रहा था। जो नदीन यानी समुद्र होता है वह जलाशय अर्थात् पानी के सद्भाव से रहित नहीं होता किन्तु वह जड़ाशय अर्थात् मूर्ख नहीं था इसलिये कभी भी दीन नहीं होता था।

रक्तः सत्कर्मणि खलु पीतः सुजनदृशा हरितोऽपि बलीनः
धवलो यशसेत्यनेकवर्णः क्षत्रियवर्णे किलावतीर्णः ॥४१॥

अर्थ—वह हर समय सत्कर्ममें रक्त रहता था, सज्जनों की दृष्टि से पीत था, भले आदमी उसकी तरफ देखा ही करते थे, हरितः यानी इन्द्र से भी अधिक बलवाला था और यशके द्वारा बिलकुल ही सफेद था। इसतरह से वह अनेक वर्णका हो कर भी क्षत्रिय वर्ण में पैदा हुवा था।

अबलाभिमतो बलवान् समभूद्वहुभूमिपतिः स्वयमेव विभुः
सहजेन हि निर्मलवृत्तिरयं समलंचकार धरणीवलयं ॥४२॥

अर्थ—जो निर्बल लोगोंके द्वारा भी आसङ्ग लिया जाय वह बलवान नहीं होता किन्तु वह राजा बहुत ही बलवान था और

उससे स्वीकार की हुई हजारों औरतें थीं जो सभी खुश रहती थीं। जो भूमिपाल होता है वह भूमि रहित कैसे हो सकता है परन्तु वह राजा बहुत बड़ी पृथ्वी का स्वामी होकर भी विभु था, बड़े बड़े राजाओं से मान्य था। जो खुद निर्मल चेष्टावाला हो वह औरों को मैला नहीं कर सकता किन्तु वह स्वभाव से निर्मल होकर पृथ्वी को अच्छीतरह अलंकृत करता था।

धरातलेऽस्मिन्महिषीभिरञ्चितश्चपूर्णरीत्या वृषभावसंश्रितः
बभूव नारीचिह्नकृत्पुमानयं नभोगतत्त्वातिगतश्च विस्मयः ।४३

अर्थ–वह राजा पूरी तौर से धर्म भावनाको स्वीकार किये हुए था और उसके कई पट्टरानियां थीं, यद्यपि जो बैल हो वह भैंसों के द्वारा स्वीकृत नहीं होसकता। पुरुष हो कर नारियों की सी चेष्टा नहीं कर सकता किन्तु वह पुरुष वैरियों को सहन नहीं कर पाता था। जो आसमान मे नहीं चल सकता वह पक्षी नहीं होता किन्तु वह सम्पूर्ण भोगोपभोग का अधिकारी होकर भी किसी प्रकार के घमण्ड को नहीं रखता था।

अथ सप्तम सर्गः

रुचिकरे मुकुरे मुखमुद्धरन्नथ कदापि स चक्रपुरेश्वरः
कमपि केशमुदीक्ष्य तदासितं समवदद्यमदूतमिवोदितं ॥१॥

अर्थ—अब किसी एक दिन चक्रपुर का राजा वह चक्रायुद्ध बहुत ही चमकीले दर्पण में मुख देख रहा था कि उसे एक सफेद केश अपने माथे में दीख पड़ा जिसको कि उसने यमके दूत के समान आया हुवा माना और सोचने लगा कि—

ननु जरा पृतना यमभूपतेर्मम समीपमुपाश्रितुमीहते ।
बहुगदाधिकृतेह तदग्रतः शुचिनिशानमुदेति अदो बत ॥२॥

अर्थ—अहो यमरूप राजा की जरारूप सेना बहुत से रोगरूप मुद्गरोंको लिये हुये वह मेरे पास अब आना ही चाहती है ताकि उसके पहले उसका यह सफेद केशरूप निशान मेरे सम्मुख उपस्थित है।

तरुणिमोपवनं सुमनोहरं दहति यत्क्षमनाग्निरतःपरं ।
भवति भस्मकलेव किलासकौ पलितनामतया समुदासकौ ।३।

अर्थ—एक उदासीन आदमी के कहने से यह सफेद केश क्या है मानों फूलों से लदे हुये बगीचे सरीखे सुन्दर यौवन को काल रूप अग्नि जलाया करती है जिससे पैदा हुई भस्म की कला ही है।

नववधूः किल संकुचनान्मतिरपसरेन्मुखवारिमिषाद्धृतिः
विवलताच्चकटी कुलटेव सा स्खलतु पिच्छलगेव गुना रसा ।४।

अर्थ—बुड्ढे आदमी की बुद्धि नई व्याही हुई औरत के समान संकुचित रहती है। उसकी धीरता लार टपकने के बहाने से बहकर निकल जाती है। व्यभिचारिणी स्त्री के समान कटि वक्र बन जाया करती है, और जीभ कीचड़में या चिकने स्थानपर चलनेवालों की तरह लड़खड़ाने लगती है।

न कुकवेरिव यस्य पदोदयःसुकृतवद्विगलेद्दशनोच्चयः
तनुमनोजरसैन्यमिथं दशालगतिपीडयितुं यमराट्कशा ।५।

अर्थ—बुड्ढे आदमी की जरा के द्वारा ऐसी दशा होजाती है कि–उसको एक पेंड भी चलना दुश्वार होजाता है जैसे कि कुकवि से एक भी शब्द नहीं बुनता। और उसके दांत पुण्यके अंशोंके समान अपने आप निकल २ कर गिर जाया करते हैं तथा यमराज के कोड़े लगना शुरू होजाते हैं।

परिभूतो हरिणा हरिणा यथा जगति देहधरोऽन्तकनस्तथा।
करिवरेण मृणालनिभो भवन्नपि वलीति वदन् धिगिमंस्तवं । ६

अर्थ—आश्चर्य तो यह है कि दुनिया में सिंहके द्वारा पकड़े हुये हिरण की भांति यह शरीरधारी कालके द्वारा हड़प लिया जाता है जैसे कि कमलके नाल को हाथी सहज में चबा जाता है फिर भी यह संसारी जीव अपने आप को बहादुर कहता रहे तो इसके इस कहने को धिक्कार है।

अपि भुवः सकलानि तृणान्यदन्ननुपयोगिशरीरमुपाददन्।
अनुभवन्वलिदायिनमन्तकं परिवदेदिह कोऽपमजं स्वकं ।७।

अर्थ—जिस प्रकार भूतलके तमाम घास को खा डालने वाला और किसी भी काम में न आनेवाले शरीर को धारण करने

वाला एवं अन्त में निर्दयता के साथ बलि होजाने वाला बकरिया अपने आप को अज (अमर) समझता है उसी प्रकार स्वार्थ में पड़कर दुनियां को बरबाद करनेवाला एवं सहजमें कालके गालमें चला जानेवाला यह संसारी जीव है इसके सिवा और कौन ऐसा मूर्ख हो सकता है ?

अपमरेऽग्रमलुब्धकहस्ततः न नृशरीरमिदं च गतस्ततः ।
अतिनिगूढपदं स पुनः कुतश्चतुरशीतिकलक्षभवेष्वतः ।८।

अर्थ–चौरासी लाख योनियों में जिसके रहस्य को कोई नहीं पा सकता ऐसी छुपी हुई अवस्थावाले इस नर शरीर को पाकर भी यह संसारी प्राणीरूप बकरिया अगर कालरूप बहेलिये के हाथ से बचता हुवा न रह सका तो फिर कहां बचेगा ?

भवति हन्त हतो विषयाशयाऽत्र च बहिर्गतवस्तुनि अन्वयात्
इतरथा तु तदीयकरार्पण–परिचयोऽपि भवेद्विकलक्षणः ।९ ।

अर्थ–परन्तु इस मनुष्य शरीर को पाकर भी यह मूर्ख संसारी प्राणी निचला नहीं रहता अपितु यह विषयों में फँसकर बहिर्गत होता है, अपने आपको भूल जाता है, अगर ऐसा न हो तो फिर यमराज का वार इसपर बिलकुल न हो पावे, बाल बाल बचा रहे ।

जयतु शूर इनः स्मरमायकं यममसुं खलु संसृतिनायकं ।
किमपरैरधिकाधिककातरैर्विषयतापमसुत्थतृषातुरैः ।।१०।।

अर्थ–इतर पदार्थों को चाह करना उसी का नाम काम है और यह काम ही जिसका अपूर्व बाण है उस संसृतिके स्वामी यम-

राज को जीतनेवाला ही वस्तुतः शूरवीर है और ये सब प्राणी तो विचारे विषयों के सन्ताप से जलते हुये होकर तृषा के सताये हुये एक से एक अधिक कायर हैं, जीत लिये गये हुये ही हैं, इनका क्या जीतना ?

यमनुमारिवरेण समर्पितां तनुपुरीमनुमन्य वृथा हि तां ।
अधिगतस्तदलङ्करणे मतिमचरमान्मगगादकमन्तरितं ॥११॥

अर्थ—मैं मेरी भूल से आज तक इस शरीररूप नगरी को जिसमें कि मैं यम नाम के वैरी द्वारा कैद किया हुवा पड़ा हूं, मेरी समझ कर इसे ही रात दिन सजाने में लगा रहा और इसके लिये अनेक तरह के अनर्थ करता रहा ।

परिजनेषु अमुष्य हि पक्षिषु मम च पुण्यफलोदयभक्षिषु ।
परिभूतापि मया खलु बन्धुता भवति किन्तु कुतोऽपि मतिर्भुता ।१२

अर्थ—जिनको परिजन कहा जाता है वे भी सब इसी के पक्षी हैं मेरे पुण्य फल को भक्षण करनेवाले हैं, इस शरीर के साथी हैं, जिनको कि मैंने मेरे बन्धु हितैषी मान रक्खा है, देखो कि भला मेरी बुद्धि न जाने कहां चली गई, मैं पागल होगया ।

पुरिपरीतमुपेत्य निजोचितं परिकरं परमत्र सुसंहितं ।
दृढहृदा विनिपातयितुं यतेऽरिमपि तं मम साक्षमनाभृतेः ।१३

अर्थ—अब मैं उसी की दी हुई इस नगरी में बैठे २ मेरे योग्य परिकर को इकट्ठा कर लूं और फिर दृढ़ता के साथ उसको भी ऐसी पछाड़ लगाऊं कि वह भी याद रक्खे तभी मेरी होशियारी है ।

भ्रमवशाद्भवजन्मनि मन्नुमाँश्चविषयानुपयम्य विषोपमान ।
ममगमं परितापनिमित्ततामिह निजात्मन एव मतिर्हता ।१४

अर्थ—मैं एक समर्थ पुरुष होकर भी इस जन्म मरणरूप चक्कर मे आकर मैंने विष के समान इन विषयों को अपना लिया इसलिये मेरी बुद्धि मारी गई और भ्रम के वश में होकर के मैं अपने आपके लिये परितापका कारण बन गया।

नहि करोम्यहमेतदिहाग्रतः विषमिषग् भ्रियतां म महानतः
यदुदिता गदतः प्रविनश्यतु झगिति पूर्वकृतं ममकस्य तु ।१५

अर्थ—अब मैं समझ गया, आगाड़ी के लिये तो मैं ऐसा नहीं करूंगा परन्तु मेरा पहले का किया भी तो नष्ट होना चाहिये कि नहीं। इसके लिये मैं किसी बड़े भारी विष वैद्य को चलकर प्राप्त होऊं जिसकी कि कही हुई दवा से मेरा वह विष भी तो दूर हो ताकि मैं स्वस्थ हो जाऊं।

भवतु मेऽखिलदेहिषु तुल्यता गुणिजनेषु पुनर्बहुमान्यता ।
प्रतिविभायिषु मौनमितस्तता दुरितयोगिषु चेतस आर्द्रता ।१६

अर्थ—जिससे कि अनुशीलन से मेरी प्राणीमात्र मे समान बुद्धि हो जावे, सब को मै मेरे मित्र समझने लग जाऊं, हां मेरे से जो अधिक गुणवान हों उनमें मेरा आदर भाव जरूर रहे ताकि आगे बढ़ने की चेष्टा करता रहूं, जो लोग पिछड़े हूये हों पाप के योग से भूल रहे हों उनके प्रति मेरा करुणाभाव बना रहे उन्हें मैं प्रोत्साहन देकर उन्नति के मार्ग पर लगने में सहायक बनूं और जो लोग मेरा

कहा न माने उनके प्रति कुछ भी न कहकर मैं मौन धारण कर लूं, मेरा काम करता रहूं।

विनतिरस्तु मते परमर्हतेऽपि मम भो कृरमंभृतवर्ह ! ते।
वपुष एवमिहात्मकलितात्मनं प्रधृतकर्मकलङ्कहराध्वनं ।१७

अर्थ—उन सज्जनों के शिरोमणि भगवान अर्हन्त देव के लिये मेरा नमस्कार हो, और हे मयूरपिच्छिका के रखने वाले साधो! आपके लिये भी मेरा नमस्कार हो जिन्होंने कि आत्मा को इस शरीर से भिन्न समझ लिया है और उसे दूर हटाने के लिये सम्पूर्ण कर्म कलङ्कों को नाश करने का मार्ग पकड़ लिया है।

स्वमिति सम्वदतोऽङ्गमिदं गलत्तदनुबन्धि च बन्धुतया दलं।
किमु वदामि जनस्य विमोहिनः स जयतादधुना भगवाञ्जिनः ।१८

अर्थ—सड़ने और गलनेवाले इस शरीर को ही जो आत्मा मान रहा है और उसी के साथ नाता जोड़नेवाले जन समूह को जो अपना बन्धु समझ रहा है उस मोही आदमी के बारे में तो मुझे कहना ही क्या है, मैं तो अब उन जिन भगवान को ही याद करता हूं, वे जयवन्त रहें, जिन्होंने कि अपने इन्द्रिय और मन को वश में कर लिया।

यदिह पौद्गलिकं क्षणमात्रिकं तदनुकर्तुमसृष्य किलाक्षिकं।
लगति तेन गतिः पुनरीदृशी जगति किन्नजनो भवतादृशी ।१९

अर्थ—इस संसार में पुद्गल के सम्बन्ध से होने वाले और क्षण भर में नष्ट हो जाने वाले बनावटी सुख को प्राप्त करने के

लिये ही इस प्राणी की दृष्टि दौड़ा करती है इसीलिये इसकी ऐसी दशा हो रही है कि उसको छोड़कर और को, फिर उसे भी छोड़कर किसी और को ग्रहण किया करता है, अगर यह अपनी इन इन्द्रियों को वश में करले तो फिर इसका सब सङ्कट दूर हो जावे।

अमिग्विानिशयादमिकोपनः पृथगयं भगवान्वपुषोऽमतः।
न नयनेन नयेन तु पश्यतः स्फुरति चिन्तवतः पुरतः सतः ।२०

अर्थ—जैसे कि म्यान से खड्ग भिन्न होता है वैसे ही इस अशुचि शरीर से यह भगवान आत्मा बिलकुल पृथक् है, जो कि इन चर्म चक्षुवों से नहीं दीख पड़ता किन्तु विचार कर देखने से एक विचारशील आदमी के सामने में स्पष्ट झलकने लगता है।

परिमरन्तममुं परिमारयेत् परिकरं परमात्मकमानयेत्।
हृदि यदि क्षणमेकमयं यदा जगति अस्य भवेत् कुत आपदा ।२१

अर्थ—अगर इस नष्ट होनेवाले पौद्गलिक बाहिरी ठाट को भुलाकर अपने अन्तरङ्ग में एक क्षण के लिये भी यह मनुष्य अपनी आत्मा के आनन्द को अनुभव करले तो फिर इसे यह संसार की आपत्ति न सतावे।

परमभावममञ्चितमम्पदा परमभाववशं कलयन् हृदा।
पृथुतजेऽन्यमसृजन्निजवैभवं प्रतिविधातुमुदीय मवैभवं ।२२

अर्थ—इस प्रकार परमशुद्ध पारिणामिक भाव का विचार करते हुये अपने हृदय से इतर सभी इन बाहिरी वस्तुवों को विनाशीक मानकर उसने अपने लड़के को बुलाया और अपना बहुत बड़ा

राज्य उसको सौंपकर अब वह आप संसार का अभाव करने के लिये उठ खड़ा हुवा।

वणिगिवार्जयितुं स नवं धनं गज इव प्रसवँश्च न बन्धनः।
मदनतः प्रचचाल वनं प्रति भवितुमत्र तु पूर्णतया यतिः ।२३

अर्थ—इसके बाद वह बिना बन्धन के हाथी की तरह स्वतन्त्र होकर फिर नवीन धन को कमाने को अभिलाषावाले बनिये की भाँति वह अपने घर से पूर्ण तौर पर यति बनने के लिये सीधा वनके सम्मुख चल पड़ा।

इति तमोऽपगमात् स इतो वनं झगिति कोक इवाप तपोधनं।
पितरमेव गुरुं च विवन्दिषुः प्रथममङ्गभृतामभिनन्दिषु ।२४।

अर्थ—इस प्रकार अज्ञान के नाश हो जाने से गुरुदेव को वन्दना करने की इच्छा वाला वह चक्रायुध वन में जाकर परम तपस्वी अपने ही पिता श्री अपराजित नाम मुनिराज को प्राप्त हुवा, जो कि मुनि महाराज दुनिया के लोगों को प्रसन्न करनेवालों में सबसे मुख्य गिने जाते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि जैसे रात्रि का अन्धकार हट जाने पर चकवा पक्षी ही तेजके धारक सूर्य को प्राप्त हुवा।

निधिमिवाद्रविणेन कदर्थितः जलमुचं खलु वर्हसमर्थितः।
विधुमवेक्ष्य चकोर इवान्वितः समभवत्स तदा पुलकाञ्चितः ।२५

अर्थ—उस समय वह उन्हें देखकर ऐसा राजी हुवा कि रोमाञ्चों के मारे फूल गया, जैसे कि किसी धन के बिना दुःखी होने वाले

आदमी को धन का खजाना मिल गया हो, अथवा मयूर को मेघ दीख पड़ा हो, किंवा चकोर ने चन्द्रमा को पा लिया हो।

ननु नमोऽस्त्विति वारिपुरस्सर मनुनिजं खलु विल्वफलं शिरः।
सुललितं स मनः कुसुमं दधदपि ययौ सुकृतैकतरोरधः ॥२६॥

अर्थ—जो मुनि महाराज अति उत्तम पुण्य के वृक्ष थे, अतः उसने उनके आगे जल सींचने का सा काम करते हुये नमोऽस्तु इस प्रकार शब्द बोला, और अपने महा मनोहर मनरूप फूल को भी उनके चरणों में लगाया तथा वहीं पर बीलफल सरीखे अपना सिर भी धर दिया एवं मन वचन और काय से उन को वन्दना करके उनके आगे बैठ गया।

भवसि भव्यपयोरुहवल्लभस्त्वमसि सूर्य इवान्वितसत्सभः।
जगति शार्वरचेष्टितदूरग इतिविधावपि शात्रवपूरगः।२७।

अर्थ—और इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगा कि हे महाराज आप भव्य कमलों के प्यारे हो, तारावों के समान निर्मल चेष्टा वाले सज्जनों की परम्परा आपके पीछे २ लगी ही रहती है इसलिये सूर्य के समान हो, सूर्य जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार को मेट देता है वैसे ही आप भी जवान औरतों के द्वारा फैलाई हुई कामचेष्टा के फन्दे से बिलकुल परे हो और सूर्य जैसे चन्द्रमा का बैरी होता है, आप भी कर्मों के विरोधी हो।

सुभगकोक विपच्चिकरत्वतः कुवलयस्य विकाशपरत्वतः
अमृतगुश्च कलोदयवत्वत स्त्वमसि मायमनुस्थितिभृत्त्वतः ।२८

अर्थ—हे स्वामिन् ! अमृतके समान वचनों के बोलनेवाले और अनेक कला ऋद्धियोंके धारक होने से चन्द्रमा भी आप ही हो, चन्द्रमा सन्ध्याके समय प्रगट होता है तो आप पुण्य चेष्टाको लिये हुए हो, चन्द्रमा चकवों को आपत्ति करनेवाला होता है मगर आप निर्मल आत्मा हो इसलिये पापके विध्वंश करनेवाले हो, चन्द्रमा रात्रि विकाशी कमलों को, किन्तु आप तो समस्त भूमण्डल को ही प्रसन्न करनेवाले हो।

सुचलनोऽपि भवानचलस्थितिर्निचितनिष्कपटोऽपि दिगम्बरः ।
परिवृतः क्षमयाप्यपरिग्रहः समरसङ्गमितोऽप्यभयंकरः ।।२९।।

अर्थ—हे भगवन् ! आप भले चलनके चलने वाले हैं किन्तु अपनी बात पर पर्वत की तरह अटल रहनेवाले हैं। आप यद्यपि सिर्फ दिशारूप कपड़ों के धारक दिगम्बर हैं, फिर भी आप सुनिष्कपट हैं, बेशकीमती कपड़ों के धारक जैसे प्रतीत होते हैं क्योंकि बिलकुल सरल चित्त हैं। आप परिग्रह रहित हैं, कुछ भी आपके पास नहीं है, फिर भी आप को लोग क्षमा (सहिष्णुता अथवा भूमि) से युक्त बताते हैं। जो समर सङ्गमित अर्थात् युद्ध करनेवाला होता है वह भयङ्कर होता है—किन्तु आप समरस को प्राप्त होकर भी शान्त हो।

भवनिधेस्तरणाय तवक्रम-समुदयः खलु पोत इवोत्तमः
वचनमस्त्वमृतं मुखचन्द्रतः किमपि तृप्तिकरं भगवन्नतः ।३०।

अर्थ—हे प्रभो ! संसार समुद्रसे पार होने के लिये आपके चरणों का समागम जहाज सरीखा उत्तम है, अतः हे नाथ आपके मुखरूप चन्द्रमा का वचनरूप अमृत भी बरसना चाहिये जिससे मुझ सरीखे को तृप्ति हो सके, सारांश यह कि—धर्मोपदेश दीजिये ।

जन्म वा मरणं वेदं किञ्चिन्बन्धनमात्मनः
कुतश्चविनिवर्त्तेतेति शुश्रूषुरहं प्रभो ! ।।३१।।

अर्थ—हे प्रभो ! मैं आप से यह सुनना चाहता हूँ कि इस आत्माको जन्म और मरण तो क्यों करना पड़ता है, और उनसे यह किस तरह छूट सकता है ।

चराचरमिदं सर्वं स्वामिँस्ते ज्ञानदर्पणे ।
प्रतिबिम्बितमस्तीति श्रद्दधाति न कः पुमान् ।३२।

अर्थ—हे स्वामिन् इस बातको तो कौन नहीं मानता कि आप के ज्ञानरूप दर्पणमें ये चर और अचर सभी तरह की चीजें साफ २ झलक रही हैं ।

युष्मत्पदप्रयोगेण सम्भवेदुत्तमः पुमान् ।
आदेशोभवतामस्ति न परप्रत्ययवायकृत् ।।३३।।

अर्थ—लौकिक में तो युष्मत् पद का प्रयोग मध्यम पुरुष के लिये होता है और आदेश होता है वह अपने से पहलेवाले को दूर

हटाकर हुवा करता है किन्तु आपके चरणों का समागम पाकर मनुष्य उत्तम होजाया करता है एवं आपका अनुशासन किसी का भी बिगाड़ नहीं करता ।

इत्युक्तेऽवनिपालेन वाञ्छताभ्यनुशासनं ।
क्षमाभृतो मुनेर्वक्त्रात् प्रतिध्वनिरियानभृत् ।।३४।।

अर्थ—इस प्रकार अनुशासन चाहनेवाले भूपालने जब कहा तो पर्वत के समान निश्चल क्षमाशील श्रीमुनिराज के मुँह से इसप्रकार प्रतिध्वनि होने लगी ।

अथ अष्टम सर्गः

महोदयेनोदितमर्हता तु वदामि तद्वच्छृणु भव्य जातु ।
यदस्तिजातेर्मरणस्य तत्त्वं यथा निवर्तेत तयोश्च सत्त्वं ॥१॥

अर्थ—हे भव्य ! इस जीव को जिस कारण से जन्म और मरण करना पड़ रहा है और जिस उपाय से वह दूर हो सकता है' इस बात को दिव्य ज्ञान के धारक अर्हन्त भगवान् ने बहुत अच्छी तरह बतलाया है, उसी के अनुसार मैं तुझे कुछ थोड़ासा बता रहा हूं।

जीवोऽप्यजीवश्चस्तथापदार्थः स्यात् पञ्चधाऽजीवइयानिहार्थः
धर्मोऽप्यधर्मः समयो नभश्च स्यात् पञ्चमः पुद्गलनामकश्च ।२।

अर्थ—भगवान्‌ने मूलमें दो तरह की चीज बतलाई है, मूलमें एक तो जीव और दूसरी अजीव, उसमें से अजीव के पांच भेद हो जाते हैं, धर्म १ अधर्म २ काल ३ आकाश ४ और पुद्गल ५ ।

नभस्तु रङ्गस्थलमस्तिकालः श्रीमानयंक्लृप्तिकलारसालः
अधर्मनामा यवनिर्विभातु धर्मोऽत्रकर्मप्रकरोऽथवा तु ॥३॥

अर्थ—उनमें से आकाश द्रव्य तो रङ्गभूमि का काम करता है, और कालद्रव्य नाना प्रकार की चेष्टा करानेवाला है, अधर्म

द्रव्य पड़रे का काम करते हुये ठहरा देनेवाला है तो धर्मद्रव्य पुनः क्रिया शुरू करने वाला है।

जीवः पुनः पुद्गल एतदीय-द्वयेन नाट्यं क्रियते स्वकीयं।
रूपं परावृत्य परस्परस्य संयोगतो भो जगदेकशस्य ! ॥४॥

अर्थ—जीव और पुद्गल ये दोनों आपसमें मिलकर एक दूसरे के रूपको बदल कर स्वांग भर करके नाटक खेलने वाले हैं उसीका नाम जगत् या संसार है, ऐसा हे सज्जन तुझे समझना चाहिये।

निशा सुधा कुंकुमतां प्रयातः सृष्टिस्तथेयं चिदचिद्विधातः।
नृ नारका मर्त्य पशुप्रकारा सञ्जायते कल्पतरोद्विचारा ॥५॥

अर्थ—जिस प्रकार हलदी और चूना दोनों मिलकर रोली एक तीसरी चीज बन जाती है वैसे ही चेतन जीव और अचेतन पुद्गल ये दोनों मिलकर सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, इन दोनों की बनावटी चेष्टा को पाकर मनुष्य नारकी देव और पशु इस तरह चार भेदवाली सृष्टि बनी हुई है।

गुणोऽस्ति जीवस्य किलोपयोगस्तेनास्त्यजीवेन समं च योगः।
ततो हि संसार इयानिहास्ति वियोग एवास्तु शिवाभ्युपास्तिः ।६

अर्थ—इस जीव में उपयोग नामका गुण है और वह पूरण गलन स्वभाव वाले पुद्गल नामके अजीव के साथ में सम्बन्ध प्राप्त किये हुये है इसी से जन्म मरणरूप संसार बना हुआ है अतः जो आदमी इसे नहीं चाहता उसे चाहिये कि वह वियोग को अर्थात् संबंध विच्छेद को स्वीकार करे जिससे कि इसका भला हो।

कर्मात्मयापुद्गलमङ्गिनात्तमङ्गीतिजीवंतदिगात्युपात्तं ।
सुवर्णपाषाणवदस्यनादिर्बन्धोऽनयोः सर्वविदेत्यवादि ।७

अर्थ—कर्मों से युक्त जीवका नाम अङ्गी और उस अङ्गी के द्वारा प्राप्त किये हुये पुद्गलों का ही नाम कर्म है एवं स्वर्णपाषाण में जिस प्रकार सुवर्ण और कीटका सम्बन्ध अनादि अकृत्रिम होता है वैसा ही इनका भी है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने बतलाया है ।

हन्त्येककर्मतस्य गुणं तु घाति तदङ्गभावात् परमस्त्यघाति ।
तयोश्चतुर्धात्वमुदीरयन्ति जिना जगत्यत्र तमां जयन्ति ।८

अर्थ—जिन भगवान ने इस संसार में होने वाले उन कर्मों को अच्छी तरह जीत लिया है, उन्हीं जिन भगवान ने उन कर्मों को मूल में दो भागों में विभक्त कर बतलाया है, एक तो घाति दूसरा अघाति । जो आत्मा के अनुजीवि गुण का घात करने वाला हो वह घातिकर्म, परन्तु आत्मा के किसी स्पष्ट गुण का घात न कर सिर्फ उस घातिका अङ्गभूत होते हुये आत्मा के प्रतिजीवि गुण को हरता हो वह अघातिकर्म कहलाता है । फिर वे दोनों ही कर्म चार चार तरह के होते हैं जैसे—

हन्ति क्रमाज्ज्ञानदृशे च शक्तिमेतस्य कुर्वच्चमदोपरक्तिं ।
चतुर्थमाभाति महाप्रभावमतोऽयमन्यत्र धृतैकभावः ।९।

अर्थ—उनमें से घातिकर्म के तो ज्ञानावरण १, दर्शनावरण २, अन्तराय ३ और मोहनीय ४, ये चार भेद होते हैं । जो ज्ञान को न होने दे उसे ज्ञानावरण, जो दर्शन न होने दे उसे दर्शनावरण,

जो शक्ति को रोके उसे अन्तराय और जो इस आत्माके आत्मत्व को बिगाड़ने वाला हो, और से और कर देनेवाला हो उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह चौथा मोहनीय कर्म बड़ा प्रभावशाली है जिससे कि यह आत्मा अपने आपको भूलकर अन्य में अपनापन मानने लग रहा है।

यदुच्चनीचप्रतिपत्तये तु गोत्रस्य वेद्यस्य परन्तु हेतुः ।
तृतीयमङ्गादिसमागमाय तुरीयमङ्गेऽस्य निरोधनाय ।१०।

अर्थ—अघाति कर्मों मे से पहला इस आत्मा को ऊंचा या नीचा कहलवाता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं, दूसरा वेदनीय कर्म है जो इसके साथ इसको भली लगने वाली और बुरी लगने वाली चीजों का सम्पर्क करा देता है। तीसरा नामकर्म है जो शरीर या उसके अङ्गोपाङ्ग वगैरह बनाने में सहायता करता है। चौथा आयुकर्म इस आत्मा को औदारिकादि शरीर मे रोके रहता है।

वपुष्यहंकार उदेति मोह माहात्म्यतोऽतोऽभिगृहीतमोहः ।
तद्घातिकृत्पोषकयोः सुधामा परिग्रहोऽन्यो ममकारनामा ।११

अर्थ—उपर्युक्त घातिकर्मों में जो मोह नामका कर्म है, जिसके प्रभाव से इस आत्मा को एक तो इस शरीर मे अहंकार उत्पन्न होता है जिससे कि यह जीव इस शरीर को ही आत्मा समझने लग रहा है। इसी को मिथ्यात्व नाम का परिग्रह या अन्तरङ्ग परिग्रह कहते हैं। दूसरा ममकार नामक परिग्रह होता है जो कि इस शरीर के बिगाड़ने वाली चीजों में वैर भाव कराते हुये इस को पोषक चीजों के साथ मित्र भावरूप परिणाम कराता रहता है, यह

बाह्य परिग्रह चरित्रमोह नाम से कहलाता है। यह परिग्रह भाव ही इस आत्मा के साथ लगा हुवा बड़ा भारी जोरदार है।

अतो भवेन्नूतनकर्मबन्धः यस्योदये मन्मथुजोऽयमन्धः।
करोति दुष्कर्म ततः कुबुद्धिरुदेति यावन्न ममेति शुद्धिं ।।१२

अर्थ—उस उपर्युक्त अहङ्कार और ममकाररूप परिग्रह परिणाम के द्वारा ही इस आत्मा के साथ आगे के लिये नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है और जब उन कर्मों का उदय होता है उस समय यह आत्मा विचारहीन अन्धा बन जाता है जिससे कि अनेक तरह के कुकर्म करने के लिये उतारू होता है, और उससे इस की बुद्धि और भी आगे के लिये विकृत होती है, इस तरह से सन्तान दरसन्तान चली जाया करती है जब तक कि यह आत्मा पूर्णरीति से शुद्धि को प्राप्त नहीं कर लेता।

अचेतनं कर्म च जीवबद्धं फलप्रदानाय समस्तु नद्धं।
कथं न भुक्ताशनवद्विवेकिन्यतोऽयमंगी जगतीतलेऽकी ।।१३।।

अर्थ—हे बुद्धिमान् ! यहां पर एक शङ्का जरूर हो सकती है कि यह जीव जिस कर्म को बांधता है, उपार्जन करता है वह तो स्वयं अचेतन है, जड़ है, वह अपने आप इस जीव को अपना फल कैसे दे सकता है, परन्तु जरा सा विचार करने पर ही वह हल हो जाता है। देखो कि हम लोग जैसा कुछ भोजन करते हैं उसका ठीक समय पर परिपाक होना शुरू होकर नियत काल तक उसका वैसा ही असर हम लोगों के लिये होता है, जैसी तीव्र मन्द या मध्यम जठराग्नि

होती है उसी मात्रामें वह ग्रहण करके पकाती है और रस रक्तादि रूप यथोचित रीति से विभक्त होकर वह हम लोगों को वैसा ही अपना फल दिखाता है। बस इसी प्रकार जिस तीव्र मन्द या मध्यम कषायभाव से यह जीव कर्म वर्गणा समूह का ग्रहण करता है वह यथोचित ज्ञानावरणादि के रूपमें विभक्त होकरके वैसा ही अपना प्रभाव इस आत्मा पर डालता है जिससे कि यह संसारी जीव दुःखी होता है।

यदेकदाबद्धमनेककाले प्रतिक्षणं तावदुदेति चाले!।
यावत्स्थितीत्थं बहुकालभावि कर्मैककालेऽपि भवेत्प्रभावि ॥१४॥

अर्थ—हे मित्र! एक बात और जान लेना चाहिये कि भोजन के समान एक बार का ग्रहण किया हुवा कर्म स्कन्ध भी जब तक कि उसका स्थिति काल होता है प्रतिक्षण बहुत काल तक उदय में आया करता है एवं बार २ यह जीव कर्म ग्रहण करता रहता है, अतः अनेक समय का ग्रहण किया हुवा कर्म पिण्ड भी मिलकर एक समय में इस जीव को फलप्रद होता है।

सत्यागते कर्मणि वृद्धिनाशावपकर्षणोत्कर्षणसंक्रमा वा।
भवन्ति तस्मादिह तीव्रमन्द-दशाऽपि भूयात्सुगुणैककन्द!॥१५॥

अर्थ—हे गुणोंके भण्डार! यह भी याद रक्खो कि किसीने गुस्सेमें आकर विष खाया और बाद में उसका विचार बदल गया तो झट से उसके प्रतिकार की दवा खाकर उसके असर को न कुछ सरीखा बहुत ही कम कर सकता है, प्रत्युत गुस्से में भर जाय

तो दुगुना विष खाकर उसे जोरदार भी बना सकता है या मन्त्रित जलादि पी कर उसे जहर के बदले अमृतमय भी कर सकता है, इसी प्रकार कर्मों का भी हाल है, मान लो एक आदमी ने कुटिल परिणाम करके पाप बन्ध किया परन्तु अनन्तर ही परिणाम ठीक हो गये तो पश्चात्तापादि करके उसके असर को कम कर सकता है, और अगर उसी कुटिलता का समर्थन करता रहा तो उसे और भी जोरदार कर सकता है एवं अगर प्रायश्चित करके उसके ऊपर जम जाय तो उसे पुण्यके रूपमें भी बदल सकता है। कम असर कर देने का नाम अपकर्षण, बढ़ा देने का नाम उत्कर्षण एवं और का और कर डालने का नाम संक्रमण है, जीव के बान्धे हुये सत्तागत कर्म में ये सब दशायें परिणामों के अनुसार होती रहती हैं जिससे कि कर्मोंका कभी तीव्र और कभी मन्द भी उदय होता है।

यथोदयं विक्रियते च भावस्तेनाग्रतो बन्धमुपैति तावत्।
एवं क्रमे मान्द्यमिते च कर्मण्यात्मा प्रयत्नेन लभेत शर्म ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार कर्मोंके उदयका हिसाब है, उसमें जब कि कर्मोंका तीव्र उदय होता है तब तो नदी के वेग में पड़े हुये की भाँति विवश होकर अधीर होनेसे इस आत्मा से कुछ भी प्रयत्न अपने भले का नहीं हो पाता किन्तु जब मन्द उदय होता है उस समय अगर यह चाहे तो प्रयत्न कर सकता है और उससे पार होकर सुख का भागी बन सकता है।

उदीर्य कर्मानुदयप्रणाशात्तदग्रतोबन्धविधेः समासात्।
यथोत्तरं हीनतयानुभावाद्जन्ममृत्योरयमीक्षिता वा ॥१७॥

अर्थ—कर्मों का परिपाक भी दो तरह से होता है, एक तो समयानुसार कर्म आकर अपना फल देता है उसे तो उदय कहते हैं. दूसरा—कर्म को जबरन उदयमें लाकर उसका फल भोगा जाता है उसका नाम उदीरणा है। एवं बलात् कर्म को उदय में लाकर तथा कर्मोदय के अनुसार अपने उपयोग को न बिगाड़ते हुये ही उस कर्म के फल को भोग डालना सो उदया भाव क्षय कहलाता है, ऐसा करने से आगे के लिये बन्ध बहुत कम होता है, उसमें फल देने की शक्ति उत्तरोत्तर कम होती रहती है एवं अन्तमें बिलकुल कर्मोंका अभाव होकर यह जीव जन्म मरण से रहित हो जाता है जो कि इस आत्मा के प्रयत्न का फल है।

योगं क्रमात् सम्बिलयन्नथोप-योगं पुनर्निर्मलयन्नकोपः।
भवेदुदासीनगुणोऽयमत्र स एव यत्नः फलतात् परत्र ॥१८॥

अर्थ:—संसार की भली और बुरी चीजों को भली बुरी मान कर उनमें राग और द्वेष न करे, अपने विचारमें मध्यस्थ होकर उदासीन बना रहे एवं अपने मन वचन और काय की चेष्टा को कमसे कम करते हुये तथा अपने उपयोग को भी निर्मल से निर्मल बनाते हुये उत्तरोत्तर कषायों से रहित होता चला जावे इसीका नाम प्रयत्न करना है, सो यही इस आत्मा को सफल बनाने वाला होता है।

सत्योदनेऽभ्येति च भुक्तये स निमित्तनैमित्तिकयोग एषः।
क्षुधातुरः किन्तु व्रती न याति तथैव दैवाय नु रश्मिजातिः ॥१९॥

अर्थ—भात बनकर इधर तैयार हुवा कि खाने वाला उसे

खाने लगता है, भात उसे कहता नहीं कि तू मुझे खा ले परन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, हां जो व्रती होता है, जिसने कि भोजन का त्याग कर दिया है और जो अपने संकल्पका दृढ़ है, वह भोजन होने पर भी और भूख होने पर भी भोजनके लिये प्रवृत्त नहीं होता, अपने उपयोग को नहीं बिगाड़ता। बस तो कर्मोंका भी संसारी आत्मा के प्रति ऐसा ही हिसाब है, कर्म का उदय होता है और मनचला अधीर जीव उसके अनुसार होकर स्वयं वैसी चेष्टा करने लगता है, हां, जो दृढ़ मनवाला होता है वह उसे धीरता से सहन कर जाता है, तटस्थ रह कर निराकुल होता है। यही प्रयत्न का अर्थ है।

यत्नाय धात्रीवलये नृपालः ! समस्ति तेऽयं खलु योग्यकालः।
निजीयकर्तव्यपथे सजन्तः संसिद्धयेऽकालमुपन्ति सन्तः।२०

अर्थ—इस धरातल पर होने वाले सज्जन लोग अपने कर्तव्य पथ पर आरूढ़ रहकर उस प्रयत्न की सफलता के लिये काल की भी प्रतीक्षा किया करते हैं, जिसका कि निमित्त पाकर वे लोग सहज सफल बन जाया करते हैं, परन्तु हे राजन् ! तुम्हारे लिये यह समय बहुत ठीक है।

शरीरमेवाहमियान्विचारोऽशुभोपयोगो जगदेककारोः।
प्रतीयतेऽयं बहिरात्मनस्तु यथार्थतो यद्विपरीतवस्तु।२१

अर्थ—यह शरीर है सो ही मैं हूं, इससे भिन्न मैं कोई चीज नहीं हूं, इस प्रकार के विचार का नाम अशुभोपयोग है, इसका

अविकारी वास्तविकता से दूर रहनेवाला अतएव संसार का बढ़ाने वाला बहिरात्म नाम का जीव होता है ।

समस्ति देहात्मविवेकरूपः शुभोपयोगो गुणधर्मरूपः
किलान्तरात्मा ऽयमनेन भाति परीतसंसारसमुद्रतातिः ॥२२॥

अर्थ– शरीर से आत्माको भिन्न मानते हुये विवेकरूप विचार होनेका नाम शुभोपयोग है, इस शुभोपयोग से आत्मा गुणवान और धर्मात्मा बन जाता है तथा अन्तरात्मा कहलाने लगता है जिससे कि यह संसार समुद्र, घट कर सिर्फ उतना सा हो लेता है जितना कि एक चुल्लू का पानी ।

आत्मानमंगात् पृथगेव कर्तुं शुद्धोपयोगो दुरितापहर्तुः
महात्मनः सम्भवतीत्यतः स्याद्भूमण्डले पूज्यतया समस्या ।२३

अर्थ–फिर वही अन्तरात्मा अपनी आत्मा को इस शरीरसे बिलकुल पृथक् करने के लिये चेष्टावान होता है तो रागद्वेषादि कषायों को दबाने या नष्ट करने लगता है जिसको कि आगम भाषा मे उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि कहते हैं, वहां आत्माका जो विचार भाव होता है उसे शुद्धोपयोग कहते हैं, और इस शुद्धोपयोग का धारक महात्मा इस धरातल पर होनेवाले सभी सभ्य पुरुषों से पूज्य होता है ।

साक्षात् सकृत् सर्वपदार्थभोग-प्रकारकः स्यात् परमोपयोगः
यदाश्रयः श्रीपरमात्मनामा निर्दोषरूपेण स पूर्णधामा ॥२४॥

अर्थ—एक साथ साक्षात्रूपसे सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करनेवाला परमोपयोग होता है, इस परमोपयोग को प्राप्त होने वाला आत्मा परमात्मा कहलाता है । पूर्वोक्त प्रकार शुद्धोप-

योग को प्राप्त होते हुये महात्मा बनकर क्रमसे अपने रागादि दोषों का नाशकर तदनन्तर आत्मगत आवरण को भी पूर्णतया हटाकर वह रात्रिके अन्धकार से रहित एवं उदय को प्राप्त होनेवाले पूर्ण प्रकाशमान सूर्य की सी महिमावाला हो लेता है तब ही परमात्मा होता है। इस प्रकार उपयोग का वर्णन करने के बाद अब योग का वर्णन शुरू होता है।

मनोवचःकायकृतात्मचेष्टा- त्मकं तु योगं स किलोपदेष्टा।
शुभाशुभप्रायतया जगाद द्वेधा जिनो यस्य वरोऽभिवादः।२५

अर्थ- मन वचन और काय के द्वारा जो आत्मा में परिस्पन्द होता है उसी का नाम योग है, वह योग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है, ऐसा अपूर्वमहिमा वाले परमोपदेशक सकल परमात्मा श्री जिन भगवान ने बतलाया है।

स्वकीयदेहेन्द्रियपुष्टये तु श्वभ्रादिदुःस्यायकुलस्य हेतुः।
यच्चेष्टितं स्यात्तदिहाशुभाख्यं योगं जिनानामधिराज आख्यत्।२६

अर्थ- केवल अपने ही शरीर और इन्द्रियों को पुष्ट करने के लिये जो प्रक्रम किया जाता है एवं जो नरक या तिर्यञ्च गति को देने वाले पाप का कारण बनता है, उसको श्री जिनभगवान ने अशुभयोग नाम से कहा है।

यत्स्यात् परेषामपि चोपकारि विचेष्टितं तच्छुभमात्ममारिन्।
जानीहि योगं त्रिदशेश्वरादि-पदप्रदं तं जिन इत्यवादीत्।२७

अर्थ—अपने आपके साथ २ औरों की भी भलाई का जिस में सम्पादन हो ऐसे प्रक्रमका नाम शुभ योग होता है, हे आत्म-हितैषी यह तुझे जान लेना चाहिये। और वह शुभयोग ही इस जीव को इन्द्रादि पदका देने वाला होता है ऐसा श्री जिनभगवान बता गये हैं।

समस्तु दौस्थित्यविधिर्हृदाचान्यस्यात्र निन्दाकरणादि वाचा।
योगोऽशुभोमारणताडनादिस्तन्वा जनो येन भवेत् प्रमादी।२८

अर्थ—फलाना मर जावे, उसका धन लुट जावे इत्यादि हृदय के बुरे विचारों का, वह चोर लफंगा धूर्त है इत्यादिरूप वचन से किसी की निन्दा करने का, या शरीर के द्वारा किसी को निर्दयता के साथ मारने पीटने का नाम अशुभयोग होता है जिस के कि वश में होकर यह आदमी पागल सा बन जाता है।

समस्ति योगः स शुभाभिवादी तन्वा न दानार्चनसत्क्रियादि।
कारुण्यमौदार्यमिपद् हृदा चानुकूल्यसम्पादयिताथ वाचा।२९

अर्थ—शरीर के द्वारा भगवान की पूजन करना, दान देना, सज्जनों का सत्कार करना, हृदय में उदारता और करुणा भाव रखना, किसी को भी आश्वासन कारक या झगड़ा टण्टा मिटाने वाले वचन कहना इत्यादि सब शुभयोग कहलाता है। यह अशुभ और शुभयोग का स्पष्टीकरण है।

प्रशस्तपुण्यं शुभयोगभावाच्छुभोपयोगेन भवेत् सदा वा।
यस्योदये शक्रपदादिलाभो जीवस्य भूयाद्विदितं मया भो।३०

अर्थ—शुभोपयोग के साथ २ शुभयोग भी हो तो उससे हर समय प्रशस्त पुण्य का बन्ध होता है, जिसके कि उदय में इस जीव को इन्द्रादिपद की प्राप्ति हुवा करती है, ऐसा हे भाई मैं जानता हूँ।

शुभाच्चयोगादशुभोपयोगी यदेतिपुण्यं च ततः सभोगी ।
भवन्दुराशावशतोऽत्रपापमुपार्ज्य पश्चादधर्गतिं मापत् ।३१।

अर्थ—अशुभोपयोग वाला जीव अगर कहीं शुभयोग कर लेता है तो उससे जो पुण्य बन्ध होता है उसके द्वारा वह भोगों को प्राप्त जरूर करता है, परन्तु अपनी दुराशा के वश में होकर उनमें लीन होता हुवा वह आगे के लिये पाप का उपार्जन करके बुरी तरह से अधःपतन को प्राप्त होता है।

दुष्टाच्चयोगादशुभोपयोगे पापं महत्स्यादमुकप्रयोगे ।
जीवोऽत्रदुःखादतिदुःखमेति न भूरिकालाच्च यतो निरेति ।३२

अर्थ—परन्तु जब अशुभोपयोग के साथ अशुभयोग होता है उससे तो घोर पाप कर्म का बन्ध पड़ता है, जिसके कि उदय में इस जीव को दुःख के ऊपर दुःख भोगना पड़ता है एवं बहुत काल तक भी उससे छुटकारा नहीं हो पाता है।

शुभोपयोगेन यदा कदाचिदशस्तयोगे समुपागता चित् ।
तदर्जितं पातकमाशु नश्येत्तथाग्रतः सम्पदमेवपश्येत् ।३३

अर्थ—शुभोपयोग वाले की बुद्धि प्रथम तो अशुभयोग पर जाती ही नहीं, और कभी कहीं चली भी गई तो उससे जो पाप

बनता है वह थोड़े दिन दुःख देकर शीघ्र निकल जाता है, अन्त में सुख ही होता है।

ऐकाग्र्यमात्मप्रकृतोपयोगे ध्यानं तदेवानुवदन्ति सन्तः।
तदार्त्तरौद्रद्वितयं च धर्म्य-शुक्लद्वयं चेति विचारवन्तः ॥३४॥

अर्थ—आत्माके उपयोग में एकाग्रता का होना, किसी भी एक बात का सहारा पाकर उसमें निश्चलपना आजाना ही ध्यान कहलाता है, ऐसा सज्जन लोग कहते आ रहे हैं। उस ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ऐसे चार भेद है, जिनमें से आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान तो संसार में भटकाने वाले हैं किन्तु धर्म्य एवं शुक्ल ये दो संसार का अभाव करने वाले है ऐसा विचारशीलों का कहना है।

इष्टोपयोगाय वियुक्तयेऽतोऽनिष्टस्य पीडासु निदानहेतोः।
आर्त्तं प्रमादस्यवशाद्भवतीति यदस्य तिर्यग्गतिहेतुरेति ।३५

अर्थ—क्या करूं, कैसे काम बने, इस प्रकार शोकातुरता का नाम आर्त्तध्यान है, वह एक तो भली चीज को प्राप्त करने के लिये होता है, दूसरा बुरी चीज को दूर हटाने के लिये होता है, तीसरा शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा होने पर होता है, और चौथा भविष्य में भी विपत्ति न आकर सम्पत्ति मिले इस विचार को लिये हुये होता है, उनके इष्टवियोग १ अनिष्टसंयोग २ पीड़ाचिन्तन ३ और निदान ४ ये क्रम से नाम हैं। यह चारों ही प्रकार का आर्त्तध्यान प्रमाद की तीव्रता से होता है और मुख्यतया इसका कार्य तिर्यग्गति होना है।

हिंसानृतस्तेयपरिग्रहेषु प्रसन्नभावादघकारणेषु ।
उदेति रौद्रं तदथाविरत्या यत्कारणं स्यान्नरकाख्यगत्याः ।३६

अर्थ–जीवों को मारना, झूठ बोलना, चोरी करना और दुनियां की चीजों को बटोरना, इन पाप के कारणों को करते हुये इनमें तल्लीनता रखना, प्रसन्न होना सो रौद्रध्यान कहलाता है, जो कि अविरति भावको लिये हुये होता है और जिसका कि फल प्रधानता से नरकगति है ।

उद्गच्छतस्ते अशुभाद्वियोगात् तथोपयोगस्य च सम्प्रयोगात् ।
क्वचित्कदाचिच्छुभयोगतोऽपि शुभोपयोगप्रतिभावतोऽपि ।३७

अर्थ—आर्त और रौद्र ये दोनों ध्यान, अशुभोपयोग वाले मिथ्यादृष्टि जीव के तो होते ही हैं जो कि अशुभ योग के द्वारा हुवा करते हैं परन्तु कभी कहीं शुभयोग के द्वारा परोपकार चेष्टा से भी होते हैं और शुभोपयोग वाले सम्यग्दृष्टि जीव के भी हो जाया करते हैं ।

सहोपयोगेनशुभेन शस्यं-योगस्यसंयोजनकं समस्य ।
संख्यायते ध्यानमिदं हि धर्म्यं यच्चाशुभेनात्र तदप्यधर्म्यं ।३८

अर्थ—जहां शुभोपयोग के साथ २ शुभयोग का भी मेल हो अर्थात् इस शरीर से अपनी आत्मा को भिन्न मानते हुये यह जीव लोगों का भला करने में तत्पर हो उसका नाम धर्म्यध्यान है, परन्तु अशुभोपयोग के साथ में जो इन्द्रिय दमनादिरूप चलन में मन लगाया जाता है वह धर्म्यध्यान सा प्रतीत होता जरूर है

तो भी वह धर्म्यध्यान नहीं होता क्योंकि जो शरीर को ही आत्मा मान रहा है उसका इन्द्रियों को दमन करना आदि सब आत्मघात रूप ठहरता है, जो कि आत्मघात घोर रौद्रध्यान होता है, इत्यादि।

जिनाज्ञयनुज्ञानुभागपाय- विपाकसंस्थानचयाय धर्म्यं।
ध्यानं ज्ञजिनेनोत्तममन्क्रुनेन जनोऽनुपायान्नु नाकहर्म्यं ।३९

अर्थ—श्री जिन भगवान की ऐसी आज्ञा है, हमें उसी के अनुसार चलकर अपने आप का तथा और लोगों का भी भला करते रहना चाहिये इस प्रकार विचार करने का नाम आज्ञाविचय है। यह संसारी जीव अपने ही किये हुये कुकर्मों के द्वारा किस प्रकार आपत्तियों में पड़ता है इत्यादि विचार का नाम अपायविचय होता होता है। जब दुष्कर्मों का उदय होता है तो इस जीव को किस प्रकार से पीड़ित करता है, बड़े २ पदवी धारियों को भी अपनी चपेट में घायल कर दिया करता है, इस प्रकार के विचार को विपाकविचय कहते हैं। जीवादि तत्वों के स्वरूप चिन्तन करने का नाम संस्थानविचय है। इन चारों तरह से अपने उपयोग को सुकोमल करते हुये अपने मन वचन काय की चेष्टा को तदनुकूल करना धर्मध्यान है जिसके कि द्वारा उपार्जन किये हुये उत्तम पुण्य से यह जीव स्वर्गादि सुख का भागी होता है जैसे कि आश्रम में ठहर कर आराम पाया करता है।

संयमस्य योगं परिणामविशोधियोगमात्मात्मन आत्मनेह।
शुक्लं करोतादमनन्यवृत्त्या विराजमानः महसा नृदेहः ।४०

अर्थ—उपर्युक्त प्रकार धर्म्यध्यान का अभ्यास करते करते अपने मन वचन काय की क्रिया को अच्छी तरह से अपने वश में करके अपने उपयोग को और सब तरफ से हटा कर बेलाग बनाता हुवा यह आत्मा अपने मनके द्वारा अपने आपका ही विचार करने लग जाता है एवं साहस के द्वारा उसमें ऐसा अडोलपना प्राप्त कर लेता है कि ध्यान, ध्यान करने वाला और ध्यान करने की चीज इन तीनों में स्पष्टरूप से कोई भेद ही नहीं रह जाता, बस इस प्रकारकी दृढ़ता के साथ उसी धर्मध्यान को शुक्लध्यान के रूप में ढाल लेता है, परन्तु ऐसी अवस्था को प्राप्त करने वाला अगर हो तो एक इस मनुष्य पर्यायमें नर शरीर का धारक जीव ही हो सकता है और कोई नहीं हो सकता।

शुद्धोपयोगेन वियोगभाजा निहत्य मोहं पुनरेष राजा।
प्रसिद्धधाम्नः शिवपत्तनस्य प्रवर्तितेऽयं भवितुं प्रशस्य ! ।४१।

अर्थ—हे धन्यवाद के पात्र ! सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों के भले प्रकार त्याग को लिये हुये होने वाले एवं मन वचन और शरीर के व्यापार को रोककर अन्त में उसको भी बिलकुल नष्ट कर देने वाले शुद्धोपयोग के द्वारा मोहकर्म का नाश कर फिर शेष कर्मों को भी खपाकर यह आत्मा प्रसिद्ध महत्व वाले मोक्षरूप नगर का राजा होने के योग्य हो जाता है।

सम्पत्तयेऽमुष्य विकल्पमन्यं त्यक्त्वा परित्यज्य च वस्तुबाह्यं।
निद्राक्षुधाद्यं च विजित्य साम्यमेकान्ततो भाति किलावगाह्यं ।४२

अर्थ—इस शुक्लध्यान की प्राप्ति के लिये उस दृढ़ संहनन के धारक मनुष्य को इतनी बातों की जरूरत होती है कि वह और सभी प्रकार के विकल्पों का त्याग कर दे, अपने आपके सिवा और सभी बाहर की चीजों को भी छोड़ दे, नींद भूख वगैरह को जीत कर एकान्तमें दृढ़ आसन कर ले एवं साम्य को प्राप्त हो जावे और शत्रु मित्र तृण काञ्चन वगैरह में सर्वथा बुरे भलेपन से रहित हो जावे तब कहीं यह प्राप्त हो सकता है।

शृणुत भो सारमभुष्यशुक्ल-ध्यानाग्निनाऽनेनविनात्मनस्तु ।
विनश्य सा चिक्कणता कथं स्यादुन्नैः पृथक् कर्मकलङ्कवस्तु ।४३

अर्थ—हे भैय्या ! सुनो, इस शुक्लध्यानरूप अग्नि के बिना इस आत्मा की वह रागद्वेषरूप चिकनाई नष्ट होकर इसकी कर्मरूप कालिमा और किस प्रकार दूर हो सकती है।

कर्मागमो यद्यपियोगतस्तु परिग्रहस्तत्रनिबन्धनस्तु ।
त्यागं जयाद्यास्य नरः करोतु प्रयत्नतः सम्प्रति कर्महोतुं ।४४

अर्थ—यद्यपि कर्मोंका आना तो योगों से होता है परन्तु उनको आत्मा के साथ एकमेक करके रखना यह अहङ्कार और ममकाररूप परिग्रह का कार्य है, इसलिये उन कर्मोंका नाश करनेके लिये मनुष्य को परिग्रह का त्याग करना चाहिये। वह त्याग भी सात्विक राजस और तामस के भेदसे तीन तरह का है।

त्यागोऽपि यो देहभृतोपरिष्टात्पश्चीयते तामस एषशिष्टा ।
वदन्त्यमुं घोरमनर्थहेतुं मोनोर्यथैवास्तु विपत्तये तु ।।४५।।

अर्थ–उनमेंसे चूहोंको सहजरूप से पकड़नेके लिये जैसे बिलाव मौन पकड़ कर बैठा रहता है वैसे ही मन में छल कपट रख कर जो सिर्फ ऊपर से त्याग किया जाता है वह तामस–त्याग होता है, यह तामस त्याग घोर दुःख देनेवाला है और अनर्थ का ही कारण है, ऐसा समझदार कहते हैं।

प्रख्यातयेऽपि क्रियते जनेनाथ राजसस्तावदसावनेनाः
न सिद्धये साम्प्रतमृद्धयेऽयं परन्तु भूयादवनौ प्रणयः ॥४६

अर्थ—एक त्याग वह होता है जो कि अपने आपको उन्नत समझते हुए बड़प्पनके लिये किया जाता है, उसे राजस-त्याग समझना चाहिये, यह त्याग बुरी वासना को लिये हुये नहीं होता, निष्पाप होता है अतः पुण्य के कारण सांसारिक विभूति का देनेवाला होता है किन्तु इसके द्वारा भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

यथैव तन्त्रात्वनेनचेत-स्कारेण चेत्स्वीक्रियते तथेतः
स सात्विको भूवलयेऽनपाय-पृतिगतः सिद्धिसमागमाय ॥४७

अर्थ—किन्तु जो त्याग शरीर वचन और मन को सरल करके किसी भी प्रकार की प्रतिभावना रहित सच्चे विचार से स्वीकार किया जाता है वह सात्विक होता है, जो कि इस भूतल पर निर्दोषरूप से अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचने पर सिद्धिका देनेवाला है।

त्यजानहङ्कारमतीत्य भूयाद्भवेच्चतुर्था ममकारभूया।
एकाग्रतानीतिरभक्ष्यवृत्तिर्भवेद्वितीया खलु सत्प्रवृत्तिः ॥४८॥

अर्थ— वह सात्विक त्यागवाला जीव सर्व प्रथम अहंकारका त्याग करता है, जिससे कि अपने विचार को सत्य मार्गके अनुकूल

बनाकर सम्यग्दृष्टि कहलाने लग जाता है। रहा ममकार, वह चार तरह का होता है, एक तो वह जिससे कि यह जीव अन्याय का पक्ष लेकर न खाने योग्य चीजों के भी खाने में प्रवृत्त हो, दूसरा वह जिससे बुरी बातों की तरफ तो इस का मन कभी भी न जावे किंतु सच बोलना, सब का भला करना, किसी का भी बिगाड़ न करना आदि अच्छे कार्योंमें संलग्न रहे।

परास्वरूपाचरणान्निवृत्तिस्तुर्या यथाख्यातदशापकृतिः ।
अतीत्य चैताः कृतकृत्य आत्मा महोदयस्तुष्टिमितः सुभात्मा ।४०।

अर्थ—तीसरा ममकार वह जिससे कि सत्प्रवृत्तिकी भी व्यग्रता को छोड़कर स्वस्थ (आत्मावलम्बी) नहीं बन सकता। चौथा ममकार वह आत्मावलम्बी होकर भी उस पर दृढ़ता के साथ जमकर नहीं रह सकता। जैसे कि एक आदमी मिट्टी खाने में लगकर पांडुरोग होजाने से अशक्त होगया किन्तु मिट्टी खाने को नहीं छोड़ रहा है, फिर कभी किसी वैद्य के कहने से मिट्टी खाना तो छोड़ देता है परन्तु अब उसके बदले मण्डूर वगैरह औषधि खाने के फिकर में है। एवं औषधि सेवन करने से रोग दूर होगया औषधि लेना भी बन्द कर दी, फिर भी अभी पहले सरीखी शक्ति न होने से अपने कारोबार को न सम्भाल कर आराम पाने के फिकर में है। अब कुछ दिन बाद थोड़ी ताकत आने पर अपना काम भी करने लग गया परन्तु बीच २ में थकान मानकर और और बातोंमें मन लगाने लगता है। यह उपर्युक्त चारों ममकारों का क्रमसे स्पष्टीकरण है, परन्तु जब चारों ही प्रकार के ममकारको उल्लंघन कर

पूर्ण स्वस्थ एवं कृतकृत्य हो जाता है तो दिव्यज्ञानको प्राप्त होते हुये अखण्ड सन्तोष को प्राप्त कर लेता है, फिर जन्म मरणरूप रोग से दूर हो रहता है।

इति गुरोरिव गारुडिनोऽथहिर्वचनमभ्युपगम्य नृपो बहिः।
झगितिकञ्चुक मुख्य मपाकरोद्गरमिवान्तरमप्यधुना स हि।५०

अर्थ—इसप्रकार गुरुदेव के कहने को सुनकर वह राजा चक्रायुध अब अपने कपड़े वगैरह बाहिरी परिग्रह को एवं अपने मन के रागादि कषाय भावों को त्यागकर मुनि बन गया, जैसे कि गारुडी के मन्त्र को सुनकर अपनी कांचली और जहर को त्याग कर सर्प बिलकुल सरल हो जाताहै।

अथ नवम् सर्गः

यथाजातपदं लेभे परित्यज्याखिलं बहिः ।
शरीराच्च विरक्तः सन्नन्तरात्मतया स हि ॥१॥

अर्थ—उसने अपने शरीर के सिवा और सब बाहिरी चीजों का त्याग कर दिया एवं शरीर से भी अपने आपको भिन्न मानते हुये वह शरीर से भी बिलकुल विरक्त होकर रहने लग गया, तत्काल के पैदा हुये लड़के की भाँति विकार रहित सरल अवस्था धारण करली।

पिच्छां संयमशुद्ध्यर्थं शौचार्थं च कमण्डलुं ।
निर्विण्णान्तस्तया दध्रे नान्यत्किञ्चिन्महाशयः ॥२॥

अर्थ—वह महाशय अब सांसारिक बातों से एकदम विरक्त होगया, इसलिये अपने पास और कुछ भी न रख कर उसने सिर्फ अपने संयम को उत्तरोत्तर निर्मल बनाने के लिये एक मयूर पंखों की पिच्छी जिससे कि समय पर किसी भी जन्तु को सहज में दूर हटा दिया जाय और दूसरा शौच करने के लिये कमण्डलु, ये दो चीजें अपने पास रक्खीं सो भी उदासीनता से।

पटेन परिहीणोऽपि बहुनिष्कपटोऽभवत् ।
अभूषणत्वमप्याप्तो भुवो भूषणतां गतः ॥ ३ ॥

अर्थ—यद्यपि उसके शरीर पर कोई भी प्रकार का कपड़ा

।व नहीं था फिर भी वह बहुत से बेशकीमती कपड़ों को धारण किये ये की तरह निःसंकोच था क्योंकि उसके मनमें किसी भी तरहका ्रल या बनावटीपन नहीं था। इसीतरह वह कोई भी तरह का ाहना भी पहने हुये नहीं था फिर भी वह सबको सुहावना होकर ृथ्वी की शोभा को बढ़ा रहा था।

नोच्चखान कचानेव मस्तकान् स महोदयः
समभूतो निस्पृहत्वेन हृदयाद्दुर्विधीनपि ॥ ४ ॥

अर्थ—उस महानुभावने अपने मस्तक पर के केशों को उखाड़ कर फेंक दिया, इतना ही नहीं किन्तु निस्पृहताके साथ २ सम्वरभावको धारण कर लेने वाले उसने अपने मनमें से बुरे भावों को भी निकाल फेंका।

न चादत्त सथाद्वृत्तिं स हितस्करतां गतः
नालीकैर्पालुवक्त्रोऽपि नालीकमवदत्कदा ॥ ५॥

अर्थ—उसने तस्करताको, चोरी करने को अपना धन्धा बना रक्खा था, फिर भी बिना दी हुई कोई की कुछ चीज भी नहीं लेता था। तथा सत्य बोलने वालों से ईर्षा के मारे मुंह मोड़कर चलता था फिर भी कभी झूठ नहीं बोलता था, ऐसा अर्थ होता है जो कि परस्पर विरुद्ध है इसलिये ऐसा अर्थ करना कि वह सहितः अर्थात् सबके हितको चाहता था इसलिये चोरी से दूर था और उसने करतां अर्थात् आत्म तल्लीनताको ध्यान को ही अपना धन्धा समझता था। और झूठ नहीं बोलता था, अतः कमल को भी परे बिठाने वाले प्रसन्न मुंहका धारक था।

भीरुभ्यो विमुखो भूत्वा सर्वेभ्योऽप्यभयप्रदः ।
समचतुरस्त्र संस्थानः सवृत्तपरिणामवान् ॥६॥

अर्थ—वह डरपोक लोगों का विरोधी अर्थात् उन्हें डराने वाला होकर भी सबको निर्भय करने वाला था तथा सुडोल चौरस आकार वाला होकर भी गोल था, यह अर्थ भी परस्पर विरुद्ध है इसलिये ऐसा अर्थ लेना कि वह औरतों के प्रसङ्ग का त्यागी था, पूर्ण ब्रह्मचर्यका धारक था और सभी को अभयदान देते हुए अहिंसा का पूरा अनुयायी था एवं पांच महाव्रतों का धारक था और सुडोल शरीर वाला था।

ग्रन्थं पुनरधीयानो निर्ग्रन्थानां शिरोमणिः
अनेकान्तमताधीनोऽप्येकान्तं समुपाश्रयन् ॥ ७ ॥

अर्थ—वह परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ लोगों का मुखिया होकर भी बार बार ग्रन्थोंके अध्ययन करनेमे ही लगा रहता था जिससे कि उपयोग की निर्मलता हो। और इसीलिये अनेकान्त स्याद्वाद मत का अनुयायी होकर भी वह सदा एकान्त स्थानको अपनाया करता था।

विनाशनमभावस्थादागमोऽस्य विनाशनं ।
कर्तुं किल समस्तानां सत्वानां हितवाञ्छकः ॥८॥

अर्थ—वह सभी जीवों के हित की इच्छा करने वाला महाशय बहुत दिन तो विना भोजन के उपवास से ही बिताने लगा क्योंकि इस शरीर के आलसीपन का नाश करना था।

कृतघ्नायेव देहाय दातुं भुक्तिमपीत्यसौ।
नाभिलाषी भवन् किञ्चिद्दत्त्वानेकदा दिने ।९।

अर्थ—इस शरीर को कृतघ्न मानकर, क्योंकि देते देते और पोषते २ भी यह जवाब देता चला आ रहा है अतः अब वह इसे भोजन भी नहीं देना चाहता था, कभी देता भी था तो दिन में एक बार थोड़ा कुछ दे लिया करता था।

स्वाध्यायध्यानकारित्वाद्देहायाप्यशनं ददौ।
द्वित्रैर्भक्त्या परोन्मृष्टं दिनैरन्वेषिणे यथा ।१०।

अर्थ—जैसे किसी को चोरी गये हुये अपने माल का पता लगाना हो तो खोज निकालने वाले को उसका मेहनताना देकर उससे वह काम लिया करता है, उसी प्रकार उस गृहस्थागी को भी भुलाई हुई अपनी आत्मा का पता लगाकर उसे प्राप्त करने की लगी थी, जो कि कार्य इस देह की सहायता बिना नहीं हो सकता था, इसलिये लाचार होकर वह इस शरीर को इसकी खुराक भी देता था परन्तु कभी दो दिन से कभी तीन दिन से, इस प्रकार उदास भाव से देता था सो भी खुद उसके लिये कोई प्रयास न करके सिर्फ गृहस्थों की बस्ती में जाता था और वहां पर भक्ति पूर्वक आग्रह करके जो कोई इसे देता था उसी से ग्रहण करता था।

कदाचित्कुसुमेभ्योऽपि गन्धग्राहीव षट्पदः।
गृहस्थानां गृहेभ्योऽसौ जातुवृत्तिमुपामदन् ।११।

अर्थ—जैसे कि भौंरा फूल को किसी भी तरह की अड़चन न

करके उसकी गन्ध को ग्रहण कर तृप्त हो जाता है उसी प्रकार वह भी प्रसन्नता पूर्वक गृहस्थ के द्वारा अर्पण किये अन्न को ही प्राप्त करके अपनी भूख को मिटा लेता था।

पाणिरेवाभवत् पात्रं स्थानमेवासनं परं।
मौनमेव पुनर्भिक्षासाधनं तस्य योगिनः ।१२।

अर्थ-उसके लिये उसका हाथ ही तो भोजन करने का पात्र था, एक जगह निश्चल खड़े हो रहना ही आसन और मौन धारण किये रहना, हाथ वगैरह का इशारा भी न करना सो ही भिक्षा लेने का तरीका था, क्योंकि वह योगी था।

अकायक्लेशकृत्वेन कायक्लेशोपयोगवान।
वैरस्यभावरहितो रसंनैवान्वभुक्क्वचित् ।१३।

अर्थ—वह अपने पूर्वकृत पाप कर्म को नष्ट करने की इच्छा रखता था इसलिये कायक्लेश नामक तप में तत्पर हो रहता था अर्थात् शरीर को आराम तलब न बना कर उसको निर्दोष कठोर साधना में लगाता रहता था। वह किसी के साथ में वैरभाव नहीं रखता था अतः संसार के किसी रसको रसीला न कहकर सब जगह मध्यस्थ होकर रहने लगा था।

आरण्यमुपविष्टोऽपि श्रीमान समरसङ्गतः।
न तत्वानिगतः सत्सु ननन्दं गतवानपि ।१४।

अर्थ—अरणस्य भाव आरण्यं यानी अकलहकारिपन को जो पसन्द करता हो वह समर–सङ्गत, यानि युद्ध में सम्मिलित नहीं हुवा करता परन्तु वह श्रीमान् अरण्य मेवारण्यं अर्थात् जङ्गल में

रहकर समभाव को प्राप्त हो रहा था। एवं वह तत्व से अर्थात् सारभूत बात से कभी भी दूर न हटकर सज्जन पुरुषों में हमेशह विनय भाव को धारण किये हुये था।

प्रायश्चित्तं चकारैष ध्याने स्वाध्ययने रतः।
परेभ्योबाधकं न स्याद्देवमङ्गं स मन्दधन् ।१५।

अर्थ—अधिकतर तो वह अपने मनको ध्यान में लगाया करता था, इतर काल में स्वाध्याय में लगा रहता था। अपने शरीर को इस प्रकार दृढ़ता के साथ जमाकर रखता था ताकि उसके हलन चलन से किसी भी जीव को कोई प्रकार की बाधा न हो पावे, अगर ऐसा करने में कहीं जरा भी भूल हुई तो उसका प्रायश्चित्त करने को तैय्यार था।

निद्रां तु जितवानेव पूर्वस्नेहवशादिव।
आलिङ्ग्योर्वी विशश्राम रात्रौ किञ्चित्कदाचन ।१६।

अर्थ—इस पृथ्वी से पुराना स्नेह लगा हुवा था इस लिये मानों कभी कुछ देर के लिये इसे आलिङ्गन करके विश्राम कर लिया करता था अन्यथा तो फिर निद्रा को तो वह जीत ही चुका था।

स्नानं हि क्षालयामास स्नातकत्वे समुत्सुकः।
पौद्गलिकस्य देहस्य भावनप्रोञ्छनातिगः ।१७।

अर्थ—उसने सोचा कि इस पौद्गलिक शरीर के धोने और पोंछकर रखने से क्या हो सकता है अतः उससे दूर रहकर वह सच्चा

स्नातकपना पाने की भावना से अपने अन्तरङ्ग को धोने में लग रहा ।

पुण्यो हि भुवि मस्य रजक: परवस्तुभि: ।
स एव वनमासाद्याशून्यतामात्मनोऽभ्यगात् ।१८।

अर्थ—पहिले गृहस्थपन में जो स्त्री पुत्र धन धान्य वगैरह से अपने आपको राजी रखता था, एक रङ्गरेज का काम करता था वही अब वन (जंगल या पानी) को प्राप्त होकर आत्मा की शून्यता से रहित हो गया, उसे स्वीकार करके याद रखने लगा एवं अपने आपके नाम पर के अनुस्वार से रहित रजक अर्थात् धोबी होकर आत्मा की शुद्धि करने लगा ।

शुद्धोपयोगमादातुं शुभाच्छुभतरं दधौ ।
उपयोगं स योगं चाप्यशुभादतिदूरग: ।१९।

अर्थ वह शुद्धोपयोग को प्राप्त करना चाहता था, अपनी आत्मा को सर्वथा निर्मल करना चाह रहा था, अत: अशुभोपयोग और अशुभयोग से एकदम दूर होकर उत्तरोत्तर भले से भले योग को धारण कर भले से भले उपयोग को उसने प्राप्त किया ।

साम्यं फेनिल मासाद्य विवेकोत्तमवारिण: ।
धौतुमारभतात्मानय-पटमेष महामना: ।२०।

अर्थ—उस विशाल दिलके धारक महापुरुषने साम्यभाव (शत्रु मित्र वगैरह में एकसा विचार) रूप साबुन लेकर विवेकरूप पवित्र जल के द्वारा अपने आत्मरूप कपड़े को धोना शुरू किया ।

असमानगुणोऽन्येषां समितिष्वपि तत्परः
गुप्तिमेषोऽनुजग्राहागुप्तरूपधरोऽपि सन् ।२१।

अर्थ—जिनका और लोगों में पाया जाना कठिन था ऐसे क्षमादि गुणोंका वह धारक था और ईर्या भाषा एषणा आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापना इन पांच समितियों में तो हर समय ही तत्पर रहता था एवं वह स्पष्ट निरावरण दिगम्बर वेशका धारक था फिर भी वह तीनों प्रकार की गुप्तियों का पालने वाला था।

स्थाणुवत्समभात्सम्यग् निरुध्य वपुरादिकं
कण्डूयन्ते यतः स्मेते शरीरं हिरणादयः । २२ ।

अर्थ—वह जब ध्यानमें एकाग्र हो रहता था तो मन वचन काय की चेष्टा रुक जाने से और श्वास की भी चेष्टा न कुछ सरीखी सूक्ष्म मात्र रह जाने से वह एक ठूठ सरीखा प्रतीत होता था ताकि हिरण वगैरह पशु लोग आकर उसके शरीर से खाज खुजाने लगते थे।

तत्र प्रच्छन्नमन्विष्य रागाद्युन्दुरसंग्रहं ।
निष्काशयितुमेवात्म-पटसंहारकारकं ।२३।

अर्थ—बाहरमें प्रगट होनेवाले रागद्वेषादि को तो पहले ही जीत लिया गया था किन्तु अब जो कि अन्तरंग में छिपे हुये थे और भीतर ही भीतर इस आत्मरूप कपड़े को कतर कर बरबाद कर रहे थे उन छिपे हुये रागादि चूहों को भी खोज कर निकाल बाहर करने के लिये—

तनोर्वाचोहृदोवापि बाह्यांवृत्तिं समाहरन् ।
स्वयमन्तर्गतैकाग्रभावदीपकवानभूत् ।२४।

अर्थ—अब उसने शरीर वचन और मनकी बाह्य प्रवृत्तिको तो बिलकुल ही रोक लिया, सिर्फ अपने आप में मन को दृढ़ता के साथ लगाकर आगे से आगे उसे और भी समुज्ज्वल बनाता हुआ चला गया, इस प्रकार अपने निर्मल भावरूपी दीपक को उसने प्राप्त किया।

महात्मतामुरीकर्तुं संमजन्नन्तरात्मनः
योगिराड्दशां लेभे परमात्मपथस्थितः ।२५।

अर्थ–अब महात्मपन को पूर्ण प्राप्त करने के लिये अपनी ही आत्मा में तल्लीन होते हुये सिर्फ आत्म–पथ का पथिक होकर उसने योगिराज अवस्था प्राप्त करली।

कोपमाशु पराभूय मनसा कोपकारकः
छलं विहाय समभूत्समन्तात्स्वच्छलक्षणः ।२६।
माननीयोऽपि विश्वस्य सर्वथा मानवर्जितः
मूलतोलोभमुन्मूल्य वर्द्धमानकलोभवान् ।२७।

अर्थ—जो कोपकारक होता है वह कोप को कैसे दबा सकता है परंतु उस महात्माने अपने मनके द्वारा अपनी आत्मा को सम्भाल कर क्रोध का शीघ्र ही नाश कर दिया। इसी प्रकार जो माननीय यानी मान का भूखा हो वह मान रहित कैसा ? किन्तु वह अभिमान रहित होकर विश्व भरके लिये आदरणीय बन चुका

था। तथा जो छल रहित हो वह अपने आपमें छलको जगह नहीं देता है फिर भी वह मायाचार को दूर करके अपने आपके गुणों को निर्मल बना चुका था। एवं जो बढ़ते हुये लोभ वाला हो वह लोभ का नाशक कैसा ? तथापि आगे से आगे बढ़ती हुई कलाका आत्म शक्तिका धारक हो उस महात्माने लोभको भी जड़से उखाड़ डाला था।

अल्पादल्पतरं गृह्णन्विरेचनमिव क्रमात् ।
मलं निराचकारात्मगतं स बहुतोबहु ।२८।

अर्थ—जैसे बद्ध कोष्ठवाला आदमी जुलाब लिया करता है तो पहले वह ऐसी पूरी मात्रा में लेता है ताकि उसका सूखा मल फूल कर निकलने लग जावे। दूसरे दिन साधारण मात्रामें उसे ग्रहण करता है किन्तु उसीसे उसका वह फूला हुवा मल निकल बाहर होता है। तीसरे दिन फिर कुछ थोड़ी सी और ले लेता है जिससे उसका रहा सहा मल निकल कर तबियत बिलकुल ठीक हो जाती है, उसीप्रकार उस महात्माने भी उत्तरोत्तर योगोंकी चेष्टा कमसे कम किन्तु भली से भली करते हुये आगे के लिये कमसे कम कर्म परमाणुओं का ग्रहण किया, किन्तु उससे उसके पूर्व संचित कर्म कलङ्कका अधिक से भी अधिक निरसन होता रहा।

नवामनुद्भवां चक्रे पुराप्तिन्तु शोधयन् ।
शस्त्रवैद्य इवातोऽभूत्तस्य व्रणावृतेः क्षयः ।२९।

अर्थ—जैसे एक शस्त्र चिकित्सक-फोड़े फुंसी का इलाज करनेवाला आदमी ऐसा उपाय किया करता है ताकि फोड़ेमें से

उसको पहले की पोप तो निकल कर साफ होती चली जावे और आगे नई पैदा न हो पावे, एवं उसका फोड़ा भरकर सूखता चला जावे और अन्तमें उसका खरूंट सूख कर आपोंआप उतर जावे। वैसे ही उस महात्माने अपने त्याग और वैराग्य द्वारा नवीन राग द्वेष को तो उत्पन्न नहीं होने दिया और पुरानों को सहज से सहन कर निकाल बाहर किया। इस प्रकार राग द्वेष का पूर्ण अभाव हो जाने पर फिर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का भी एक ही अन्तर्मुहूर्तमें अभाव होगया।

चक्रीव चक्रेण सुदर्शनेन य आत्मशत्रूञ्जितवान् शुभेन।
चक्रायुधः केवलिराट् स तेन पायादपायाद् धरणीतले नः ।३०

अर्थ–चक्रवर्ती राजा, सुदर्शन नामक चक्ररत्न से अपने वैरियों को परास्त कर देता है उसी प्रकार चक्रायुध नाम के उन केवली भगवानने भी भले मार्ग पर चलने के द्वारा अपने आत्म दोषों को भी दूर कर दिया था, वे आत्मबली भगवान् उसी सन्मार्ग के द्वारा इस धरातल पर हम लोगों को पाप कर्मोंसे बचाते रहें।

भद्रस्याभ्युदयो यथाऽभवदनमर्योदितः संक्षेपसंस्तवः
वक्तुः श्रोतुः क्षेमहेतवे सम्भूयात् पठितो जयंजवे ।३१।

अर्थ—एक साधेसे भद्रमित्र नामके आदमी की जिसप्रकार उन्नति होकर वह बहुत ही शीघ्र आत्मा से परमात्मा बन गया, इस बात का संक्षेप वर्णन मैंने इस प्रबन्ध में किया है जिसका कि पढ़ा जाना इस ससारमें वक्ता और श्रोता दोनों के भले के लिये होवे।

जयोदयं महाकाव्यं वीरोदय मतः परं ।
सुदर्शनोदयं येन निरमायि दयोदयम् ।१।

वृत्तिस्तत्वार्थसूत्रस्य रत्नकरण्डकस्य च ।
मानवधर्मनामोक्तं व्याख्यानं देशभाषया ।२।

विवेकोदयनामापि छन्दोबद्धं निबन्धनं ।
ज्ञानभूषण सूक्तेन चैकशाटकधारिणा ।३।

तेन भूरामलेनेदमुदितं भद्रवृत्तकं ।
भद्रं दिशतु लोकेऽस्मिन्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।४।